अगस्त, 1995 पांच रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



जादुई झूठवाद के बोझिल समय में—शंभुनाथ

■

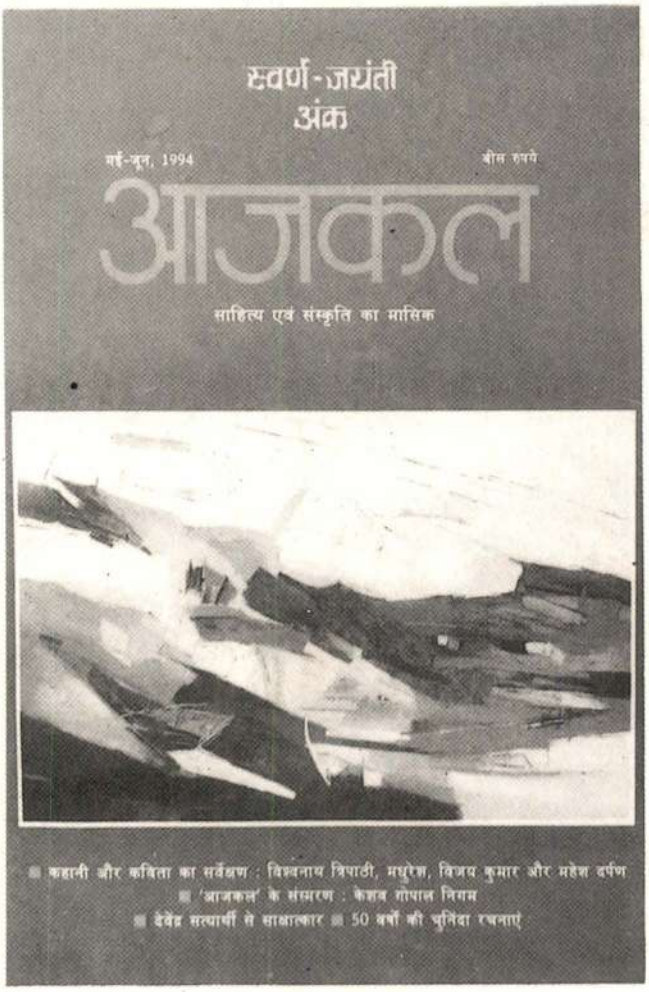
दिलीप कुमार के व्यक्तित्व व कृतित्व पर—विष्णु खरे

■

त्रिलोचन शास्त्री से साक्षात्कार

■

आशापूर्णा देवी की कहानी



स्वर्ण जयंती अंक

आजकल का यह ऐतिहासिक व संग्रहणीय अंक केवल सजिल्द संस्करण में उपलब्ध है। पुस्तकालयों व संग्रहकर्ताओं के लिए विशेष महत्व के इस अंक का मूल्य 110 रुपये।

वार्षिक ग्राहकों को दस प्रतिशत की विशेष छूट।

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाऊस

नई दिल्ली-110001

इस अंक में

आजकल

स्थापित 1945

वर्ष : 51; अंक : 4; पूर्णांक 611;
अगस्त, 1995
श्रावण-भाद्रपद, शक संवत 1917

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट

उप संपादक
हामिद हुसैन

आवरण : हरिपाल त्यागी

संपादकीय पत्रव्यवहार :
संपादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3387069

चंदे की दरें
एक प्रति : 5 रुपये;
वार्षिक : 50 रुपये;

चंदे व पत्रिका के वितरण संबंधी पूछताछ के लिए संपर्क करें :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
नई दिल्ली-110001

हमारे विक्रय केंद्र

नई दिल्ली : सुपर बाजार, कनाट प्लेस, दूरभाष : 3315508
लखनऊ : 10-बी, स्टेशन रोड को-आपरेटिव बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 653823
कलकत्ता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 2488030
पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 653823
बम्बई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, दूरभाष : 2610081
तिरुअनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 330650
हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, दूरभाष : 236393
मद्रास : एल.एल.ए. आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, दूरभाष : 8525643

लेख

7. **जादुई झूठवाद के बोझिल समय में**
आलोचक **शंभुनाथ** का मानना है कि ढोंग पर आधारित जीवन और काव्य विश्व विजय कर लें, पर वे मनुष्य की पीड़ा के दुर्ग पर बार-बार पराजित होंगे

9. **विद्रोही नारी-पात्रों की चितेरी**
आशापूर्णा देवी को **सूर्यनाथ सिंह** की श्रद्धांजलि

14. **अजस्र सृजन की मंथर धारा**
हिंदी फिल्मों के महान अभिनेता दिलीप कुमार के कृतित्व पर **विष्णु खरे**

18. **शब्द और बाजार**
छपे अक्षर और प्रकाश-ध्वनि की दुनिया की तुलना कर रहे हैं **अरविंद मोहन**

25. **नौटंकी और जनरुचि**
लोकनाट्य नौटंकी पर एक विहंगम दृष्टि—**नारायण भक्त**

28. **संघर्ष ही उनका जीवन था**
कवि 'शील' को **विष्णु प्रभाकर** की श्रद्धांजलि

30. **बौद्ध नगरी श्रावस्ती**
देवकीनंदन डिमरी

34. **पांचवें दशक के लेखकों की मनोदशा**
जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

43. **मूल्यवत्ता और सामाजिक सरोकार का सवाल**
हिंदी पत्रकारिता में बढ़ते सन्नाटे पर **संजीव श्रीवास्तव**

साक्षात्कार

47. **"मेरा काव्य गुरु अनुपस्थित तुलसीदास ही है"**
त्रिलोचन शास्त्री से **अनिल त्रिपाठी** की बातचीत

कहानी

10. **चश्मा**
आशापूर्णा देवी

21. **विस्थापन**
राजेंद्र दानी

37. **मठाधीश**
विभा रानी

व्यंग्य

46. **घुमक्कड़ी**
रविशंकर सिंह

कविता

24. **एक ग़ज़ल**
चांद शेरी

32. **तीन कविताएं**
मनीष मिश्रा

33. **एक कविता**
तेजिंदर

33. **दो कविताएं**
अश्वघोष

42. **एक कविता**
परेश

49. **ग़ज़लें**
शरद सिंह

पुस्तक चर्चा

50. **साधारण की असाधारणता**
राजकुमार सैनी का मानना है कि त्रिलोचन पर आलोचकों का ध्यान देर से गया लेकिन उसके बाद वह जिस तेजी से केंद्र में आए उससे पिछली उपेक्षा की जैसे क्षतिपूर्ति हो गई

52. **वास्तुकला और वास्तुविद्या**
विनोद शर्मा

53. **अध्यात्म से भौतिकवाद तक**
आलोक श्रीवास्तव

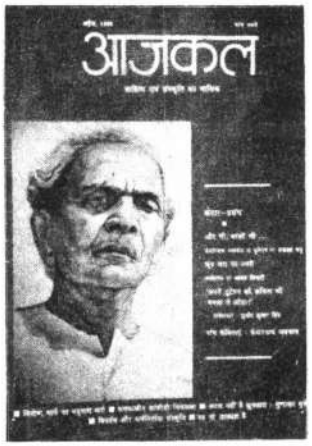
57. **यथार्थ और व्यंग्य के छोर**
मोहन थपलियाल

59. **गांव और शहर के बीच**
निरंजन देव शर्मा

स्तंभ

2. पत्र
4. प्रसंग
61. समीक्षा

अधूरा मूल्यांकन



● दो लेख '....और भी बरसों भी' (प्रकाश मनु) एवं 'धूप धरा पर उतरी' (अजय तिवारी) के माध्यम से केदार जी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को उठाने का प्रयास किया गया है। 'टूटेपन को कविता की ममता से जोड़ा' (सुधीर कुमार सिंह) साक्षात्कार में केदार के अपने विचार जानने को मिले। जिस प्रकार छायावाद के चार कवि माने जाते हैं उसी प्रकार प्रगतिवाद के भी चार कवि प्रमुख माने गए हैं—शमशेर, नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन। निश्चित ही इन चार कवियों में केदार का अपना अलग ही स्थान है। आपने केदार पर जो सामग्री प्रकाशित की है वह सराहनीय है। पर केदार जैसे रचनाकार का साहित्य और व्यक्तित्व एक विशेषांक की मांग करता है। हालांकि *सापेक्ष* ने इस दिशा में प्रयास किया है। पिछले वर्ष शमशेर विशेषांक निकाला था और इस वर्ष नागार्जुन पर एक विशेषांक निकलने जा रहा है। शायद भविष्य में केदार और त्रिलोचन पर भी विशेषांक निकलें। किसी रचनाकार पर दो-तीन लेख दे देना और पांच-छः कविताएं छाप देना तो बस यह याद दिलाने जैसा ही है कि अमुक रचनाकार भी है। मगर इसे हम किसी कवि या उसकी कविता का मूल्यांकन नहीं कह सकते। मूल्यांकन तो अधूरा ही कहा जाएगा।

—गजेंद्र नामदेव, सागर

सामयिक प्रसंग

● अप्रैल का केदार प्रसंग सामयिक है। कवि के संदर्भ में फिर भी जिज्ञासा बनी है। कभी किसी संपादक ने अपनी पत्रिका में छपी श्रेष्ठ रचनाओं पर किसी पाठक की शुभकामना उसके रचनाकारों तक पहुंचाई हो तो मेरी भी सुधीर कुमार सिंह, योगेश भटनागर, तपन बनर्जी तथा अजय तिवारी तक पहुंचा दें। गीत, ग़ज़लों को कृपया अनुसूचित मत करें।

—पांडेय आशुतोष, मलकौली

दिशा मिलेगी

● अप्रैल के अंक में केदारनाथ अग्रवाल पर एकत्रित सामग्री से गुजरने का मौका मिला। भाई सुधीर जी का प्रयास उनकी नजरों में भले ही सफल नहीं रहा है किंतु हम यह समझते हैं कि वह पूर्ण सफल हैं। उनके साक्षात्कार के माध्यम से नए लेखकों को एक दिशा मिलेगी। योगेश भटनागर की कहानी 'दूसरी जिंदगी'—पूरे अंक को संग्रहणीय करने पर पाठकों को मजबूर करेगी। अन्य स्तंभ भी पठनीय हैं। हरिओम राजोरिया की कविता 'याद' विशेष पसंद आने योग्य है।

— अशोक 'अश्क', जमालपुर

अंक पसंद आया

● बांदा के 'बाबूजी' केदारनाथ अग्रवाल पर केंद्रित अप्रैल का अंक बेहद पसंद आया। 'बाबूजी' के जीवन पर अजय तिवारी का आलेख, कृतित्व पर प्रकाश मनु और सुधीर कुमार सिंह की रिपोर्टिंग के साथ ही 1954 की अधूरी कविता 'निर्माण के स्वर' ने इस अंक को प्रशंसनीय बना दिया है। कहानियां 'अपने-अपने पिरामिड' और 'दूसरी जिंदगी' भी काफी अच्छी लगीं। विनोबा भावे पर लेख 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' और उड़िया कविता का दीप्ति प्रकाश द्वारा अनुवाद सराहनीय है।

— भारतीय वसंत कुमार, खड़गपुर

कस्बों के लड़के कहां जाएं

● केदार जी पर उनकी नई कविताओं के साथ प्रकाश मनु का लेख मार्गदर्शक लगा। केदार जी पर अन्य सामग्री भी अच्छी लगी। हरिओम राजोरिया की कविताओं को पढ़कर लगता है जैसे वह एक ताकतवर चुप्पी के माध्यम से विद्रोह कर रहे हैं। चारों कहानियां ठीक-ठाक थीं, उत्कृष्ट तो नहीं कह सकते। अंतर्राष्ट्रीय फिल्मों पर जानकारी भरे लेख उन फिल्मों को देखने की लालसा पैदा करते हैं लेकिन हम छोटे कस्बों के लड़के उन्हें देखने कहां जाएं! स्थायी स्तंभ 'प्रसंग' अवश्य दें।

— रविंद्र स्वप्निल प्रजापति, विदिशा

उद्देश्यपरक कहानी

● कविवर केदारनाथ अग्रवाल के कृतित्व पर प्रकाश मनु और आचार्य विनोबा भावे के व्यक्तित्व पर यदुनाथ थत्ते का आलेख बहुत ही अच्छा लगा। उद्देश्य की दृष्टि से 'पुल पार' कहानी काफी प्रासंगिक और सार्थक लगी और 'दूसरी जिंदगी' ने भावना के सूक्ष्मतम विंदु को स्पंदित कर दिया तो' अपने-अपने पिरामिड' मानवीय संवेदनाओं की टकराहट से उत्पन्न आज की विषम त्रासदी को यथार्थ के धरातल पर दर्शाती है।

— अभिषेक कुमार, भागलपुर

सरल जीवन की झलक

● अग्रवाल जी पर इतना सुंदर लेख एवं साक्षात्कार कभी इसके पहले पढ़ने को नहीं मिला। वास्तव में वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। उनकी कविताओं में सादगी एवं सरलता के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में त्रस्त गरीबों के जीवन की वास्तविक झलक मिलती है। पत्रिका में छपी उनकी चारों कविताएं अच्छी लगीं। कवि नागार्जुन के बांदा आने पर उन्होंने जो कविता लिखी, इससे उनके जीवन की सरलता का स्पष्ट चित्रण मिलता है।

— प्रेमसर, लक्खीसराय

महत्वपूर्ण कार्य

● *आजकल* ने विशिष्ट कवि केदारनाथ अग्रवाल पर अप्रैल-अंक में विपुल सामग्री छापकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

— नित्यानंद, लखनऊ

खूबसूरत प्रस्तुति

● 'दूसरी जिंदगी' के बहाने लेखक योगेश भटनागर ने प्रेमी-प्रेमिका के बीच की घटना को बड़ी खूबसूरती से पेश किया है। साथ ही साथ दिखावेबाज और चापलूस लेखक, 'घर के बाहर नारी मुक्ति के नेता और अंदर नारी पशु-समान के प्रणेता' किस्म के पति बाल विवाह विरोधी और विधवा विवाह के हिमायती, किंतु अपनी बेटी की उम्र की लड़की से शादी रचाने वाले समाजसेवी पर करारी चोट की है।

— चूड़ामणि, गीदम

● अप्रैल अंक में केदार जी पर सामग्री का चयन अच्छा लगा। इसी प्रकार आप पूर्व पीढ़ी के शिखरों की एक-एक करके वंदना कर रहे हैं। ध्रुव पर गुणाकर मुले का लेख रोचक है। विनोबा जी पर जन्मशती के प्रसंग में लिखा गया लेख भी प्रेरक है। योगेश भटनागर की कहानी रूमानी होने के बावजूद प्रभाव डालती है।

— कृष्ण बिहारी, दिल्ली

प्रेरणादायक कविताएं

● '..... और भी बरसों भी' के संदर्भ में मैं प्रकाश मनु को बधाई दिए बगैर नहीं रह सकता। योगेश भटनागर की कहानी 'दूसरी जिंदगी' काबिले तारीफ है। कविताएं बेहद प्रेरणादायक हैं एवं भिन्न हैं। 'गोधूलि के सामने पक्षी' कविता मानसपटल पर आज भी अंकित है। 'सूफियाना खयालों की संगतराशी और दुख का जंगल' शीर्षक पुस्तक चर्चा में प्रताप सिंह पारखी विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हुए हैं।

— दीपक वर्मा (मार्गी), हजारीबाग

अनुवाद सुंदर है

● अप्रैल का अंक प्रख्यात साहित्यकार केदारनाथ अग्रवाल के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। अग्रवाल प्रगतिवाद के स्तंभ हैं और उन पर दो आलेख पठनीय हैं। प्रकाश मनु ने केदार जी के कृतित्व का अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। तमिल कहानी 'झांसी' का सुंदर अनुवाद अशोक राजा ने किया है। भाषा में एकता राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है।

— श्रीरंग शाही, मुजफ्फरपुर

स्तरहीन लेख

● *आजकल* का आलोच्य अंक अत्यंत उच्चस्तरीय रचनाओं से भरा है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताएं सरल, सहज एवं मर्मस्पर्शी लगीं। एक बात खटकती है, इतने स्तरीय कवियों में भी वैचारिक एवं भावात्मक संबद्धता क्यों नहीं है। 'झांसी' कहानी दूसरी बार पढ़ी। काफी स्तरीय है। अन्य लेख अच्छे हैं और गुणाकर मुले का लेख स्तरहीन लगा। संत विनोबा भावे का बचपन बहुत पसंद आया। लेखों की संख्या बढ़ाएं।

— राकेश रवि, उल्हासनगर

एक अंक बाल साहित्य पर

● अप्रैल के अंक में प्रकाशित 'बाल साहित्य पर विशेषांक निकालें' विषय पर सहमत हूं। वर्ष में 11 अंक बड़ों के साहित्य के लिए हों, एक अंक बाल साहित्य के लिए हो। हर अंक में दो-तीन पृष्ठ बाल साहित्य के लिए हों तो अच्छा होता है।

— सिसु संगभेश, बीजापुर

कविताओं की संख्या कम है

● अप्रैल का अंक इसलिए पढ़ने लायक है कि इसमें आपने चार अच्छी कहानियों को प्रकाशित किया है। मैं दूसरी चीजों को बुरा नहीं कह रहा। केदार-प्रसंग पढ़कर भी बहुत सारी जानकारियां प्राप्त हुई हैं। मैं कहना असल में यह चाहता हूं कि कवि केदारनाथ अग्रवाल से की गई बातचीत के बारे में जिस घेरेबंदी और व्यवस्थित रूप का तजकिरा बातचीतकर्ता ने पाठकों से किया है वह मुझे कहीं नजर न आया, क्योंकि तीन दौर की बातचीत में कम से कम तीन लहरें तो हों। कविताएं अच्छी तो हैं मगर तादाद में बहुत थोड़ी हैं। कविताओं के पन्ने कुछ और हों तो फिर सुकून आ जाए।

— मो. हामिद, दरभंगा

केदार जी की कविताएं फिर प्रकाशित करें

● केदार प्रसंग पर केंद्रित अंक प्रशंसनीय है। प्रकाश मनु का लेख केदार जी के कृतित्व को प्रकाशित करते हुए आने वाली पीढ़ी के लिए दिशा निर्देश भी देगा है। केदारजी की कविताएं बेहद प्रभावित करती हैं। अजय तिवारी का लेख 'धूप धरा पर उतरी' बहुत संक्षेप में, पर कसा हुआ है। केदार जी का साक्षात्कार हिंदी साहित्य में हो रही माफियाबाजी और अन्य कारणों को भी उजागर करता है। आशा है केदार जी की कविताएं पुनः प्रकाशित करेंगे।

— श्रीनाथ भारद्वाज, नई दिल्ली

हृदयस्पर्शी कहानी

● कहानियां एवं कविताएं अच्छी हैं—विशेषतया विलास गुप्ते की कहानी 'अपने-अपने पिरामिड'। वास्तव में यह आधुनिक जीवन की मशीनी रेलमपेल के बीच पारिवारिक संबंधों के धीरे-धीरे दम तोड़ने की त्रासदी का यथार्थ चित्र पेश करने के कारण हृदय को छू जाती है। निःसंदेह इस दिशा में कुछ किए जाने की जरूरत है। हां, एक प्रश्न है आपसे—आप लघुकथाएं क्यों नहीं छापते?

— अनिल शूर आजाद, नई दिल्ली

वार्षिक विशेषांक निकालें

● केदारनाथ अग्रवाल पर केंद्रित अक की सभी रचनाएं एक अच्छी और मानक पत्रिका की पहचान हैं। कहानियां भी स्तरीय हैं। साल में एकाध विशेषांक अवश्य प्रकाशित करें। तमिल कहानी 'झांसी' हिंदीतर भारतीय भाषा की रचनाओं से निकटता पैदा करती है।

— योगेंद्र प्रसाद आजाद, जमालपुर



विनाश के बाद हिरोशिमा

आणविक नरसंहार के 50 वर्ष

16 जुलाई, 1945 की सुबह 5 बजकर 30 मिनट पर संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू मैक्सिको राज्य में अलामोगोंदो के रेगिस्तान में हुए एक परीक्षण-विस्फोट ने मानव को एक ऐसा संहारक अस्त्र दिया जो अणुबम के नाम से जाना गया। कंट्रोल रूम से 15,000 टन टी.एन.टी. शक्ति के इस विस्फोट की चमक को देखते हुए उसके जनक डा. रॉबर्ट जे. ओपिनहैमर को गीता का वह श्लोक याद हो आया जिसमें ईश्वर के विराट रूप का वर्णन इस प्रकार है :

दिवि सूर्यसहस्रस्य
भवेद्युगपदुत्थिता।

(आकाश में एक हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न हुआ जो प्रकाश हो)

जैसे-जैसे वह काला, भूरा आणविक बादल ऊपर उठता-उठता पाइंट जीरो लाइन के पास पहुंचा, उनके मस्तिष्क में दूसरी पंक्ति कौंधी :

कालोऽस्मि लोक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त :।

(लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ मैं महाकाल हूं)

और एक महीने से भी कम समय में 6 अगस्त, 1945 को जब 'एनोला गे' नामक बी-29 श्रेणी के अमरीकी विमान ने हिरोशिमा पर अणु बम डाला तो विश्व को यह समझते देर नहीं लगी कि ओपिनहैमर को गीता का यह श्लोक 'मैं महाकाल हूं' क्यों याद आया होगा।

इस बम के विस्फोट और उससे पैदा हुई गर्मी ने आसपास की सब चीजों को मोम की तरह पिघला दिया। इसकी आग ने 1.4 वर्ग मील के क्षेत्र को पूरी तरह फूंक दिया और लगभग 80 हजार आदमियों को तत्काल मार डाला तथा इतने ही लोगों को गंभीर रूप से घायल कर दिया। इसके दो दिन बाद अमरीका ने नागासाकी पर दूसरा बम डाला। इसने 35,000 लोगों की जान ली और 40,000 घायल हुए। पर विनाश की यह कहानी यहीं पर समाप्त नहीं हुई। आणविक रेडियोधर्मिता का प्रभाव इतना दूरगामी हुआ कि पीढ़ी दर पीढ़ी बच्चों के बाद बच्चे अपंग और कैंसर रोग के साथ पैदा हुए। हिरोशिमा और नागासाकी का यह विनाश मानव इतिहास का ऐसा अध्याय है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। लेकिन इस बात को लेकर आज भी विवाद है कि क्या अमरीका ने बम डालकर गलती की? क्या बम डालने के अलावा जापानी फासीवाद को रोकने का कोई और तरीका हो सकता था? इधर विख्यात अमरीकी पत्रिका *न्यूयार्कर* ने कुछ जाने-माने इतिहासज्ञों के लेख इस विषय पर प्रकाशित किए हैं। इनके अनुसार हिरोशिमा और नागासाकी पर अमरीका के आणविक हमले के कई माह पूर्व से ही जापान हथियार डालने के तरीकों पर मित्र राष्ट्रों से बातचीत कर रहा था। अमरीकी सैन्य नेतृत्व इस बात से परिचित था पर चूंकि वह चाहता था कि बम का परीक्षण कर ही दिया जाए, इसलिए इस बात को छिपाया गया कि जापान हथियार डालने को तैयार है।

तथ्य क्या थे? क्या होना और क्या नहीं होना चाहिए था? यह अब विवाद का विषय है। पर मानव समाज के लिए इसका एकमात्र सबक यह हो सकता है कि निहत्थी सामान्य जनता को युद्ध में न लपेटा जाए। इस संदर्भ में अमरीका के स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूशन के नेशनल एयर एंड स्पेस म्यूजियम द्वारा हिरोशिमा की 50वीं वर्षगांठ पर लगाई गई एक प्रदर्शनी का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। यह प्रदर्शनी लगभग दो वर्ष पूर्व लगाई गई थी, जिसमें 'एनोला गे' जहाज के साथ-साथ कई अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेज भी रखे गए थे। आयोजकों ने प्रदर्शनी के उद्देश्य के संदर्भ में कहा कि इसका "प्राथमिक लक्ष्य हाल ही में उपलब्ध अध्ययनों के आधार पर उन घटनाओं को जिनके कारण बम डालने का निर्णय लिया गया था और जिससे हिरोशिमा और नागासाकी के लोगों को असीमै पीड़ा का सामना

हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक :
धूप बरसी
पर अंतरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से।
छायाएं मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ा - वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचोंबीच नगर के :
काल सूर्य के रथ के :
पहियों के ज्यों अरे टूटकर
बिखर गए हों
दसों दिशाओं में।

कुछ क्षण का वह उदय-अस्त।
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी।
फिर?

छायाएं मानव-जन की
नहीं मिटीं लंबी हो-होकर :
मानव ही सब भाप हो गए।
छायाएं तो अभी लिखी हैं।
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बनाकर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।

— **अज्ञेय**

सदानीरा से साभार

करना पड़ा था तथा उसका जो दीर्घकालिक असर हुआ था उन सबका गंभीर और संतुलित पुनर्रीक्षण करना है।" प्रदर्शनी का [redacted] विरोध हुआ कि अंततः दो [redacted] द इस वर्ष जुलाई में इसमें [redacted] परिवर्तन करने पड़े और [redacted] ह अपने मूल लक्ष्य के [redacted] म नहीं कही जा सकती।

[redacted] शिमा और नागासाकी में [redacted] डार ने जापानी [redacted] ओं को—जो कि [redacted] काफी

भी इस अमानुषिक कार्य का चित्रण अपने लेखन में किसी न किसी रूप में किया है। पर अपने यहां, भारतीय और विशेषकर हिंदी लेखन में, इस घटना का असर काफी सीमित बल्कि लगभग प्रभावहीन रहा है। संभवतः इसकी तुलना में वियतनाम युद्ध पर अधिक और बेहतर लिखा गया है। क्या हिरोशिमा और नागासाकी के नरसंहार ने भारतीय अंतरात्मा को उतना भी नहीं झकझोरा जितना कि वियतनाम ने? शायद इसके [redacted] रण होंगे। फिलहाल यह [redacted] है कि इस आणविक [redacted] र कोई बहुत [redacted] चना हिंदी में नहीं मिलती। जो भी लेखन इस संदर्भ में हुआ वह छिटपुट ही रहा। इसी तरह की एक कविता जो एक जमाने में पाठ्यक्रमों में लगा करती थी (और इसी कारण याद भी रह गई) वह थी सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की 'हिरोशिमा'। यह 1959 में लिखी गई थी। ❑

एक समर्पित पत्रकार

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी का आखिरी लेख 'पांचवें दशक के लेखकों की मनोदशा' हमें कुछ दिन पूर्व ही प्राप्त हुआ था और तभी यह इस अंक के लिए तय कर लिया गया था। किंतु दुर्भाग्य से 31 जुलाई को उनका देहांत हो गया।

चतुर्वेदी जी से मेरी मुलाकात सन् 1967-68 में हुई थी। उन दिनों वह 'समाचार भारती' नामक संवाद समिति के विशेष संवाददाता थे। मैं नौकरी की तलाश में था और इसी सिलसिले में उनसे मिला करता था। चतुर्वेदी जी सदा ही बहुत सहानुभूतिपूर्ण तरीके से मुझे कई सलाह देते और संभवतः चाहते हुए भी मेरे लिए कुछ कर नहीं पाए। हमारा यह संबंध बाद में भी बना रहा।

आजकल के लिए वह लिखते ही रहते थे। 1972 से 1980 के दौरान जब मैं *आजकल* के उप संपादक और सहायक संपादक के रूप में कार्य कर रहा था, उनके कई लेखों को देखने का मुझे अवसर मिला।

चतुर्वेदी जी का जन्म सन् 1918 में जालौन (उ. प्र.) के एक गांव में हुआ था। उन्होंने हिंदी के लगभग सभी महत्वपूर्ण समाचारपत्रों जैसे *आज, नवभारत टाइम्स, दैनिक हिंदुस्तान, स्वतंत्र भारत* के लिए काम किया। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेजी व कुछ भाषाई अखबारों से भी जुड़े रहे।

चतुर्वेदी जी भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के संस्थापक, महासचिव और अध्यक्ष भी रहे। हिंदी और पत्रकारिता की सेवाओं के लिए विभिन्न पुरस्कारों से उन्हें समय-समय पर सम्मानित किया गया। वर्ष 1992-93 का, प्रकाशन विभाग द्वारा हिंदी में पत्रकारिता पर मौलिक लेखन के लिए दिया जाने वाला भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार उनकी पुस्तक को दिया गया था।

आजकल परिवार उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

— प्र. स. व.

दो पत्रिकाएं

ऐसे समय में जबकि हिंदी पत्रिकाएं अंडमान-निकोबार की किसी आदिम जनजाति की तरह विलुप्त होती जा रही हों, ऐसी इक्की-दुक्की ही सही, पत्रिकाओं का, जो निजी प्रयत्नों से न केवल निकाल रही हैं बल्कि अपनी उपस्थिति से हिंदी साहित्य व पत्रकारिता में सकारात्मक दखल भी दे रही हैं, मंजिल दर मंजिल बढ़ते जाना संतोष का विषय माना जाएगा।

इस वर्ष *पहल* ने अपने संयुक्तांक (50-51) के साथ बीस वर्ष पूरे किए हैं।

पहल हिंदी क्षेत्र की ऐसी पत्रिका है जो यद्यपि अनियतकालिक है परंतु लगातार निकलती रही है। इसने हिंदी की गंभीर पत्रकारिता के बंजर में एकमात्र नखलिस्तान का काम किया है। यह अंक वैचारिक संघर्ष को समर्पित है। इसमें रामविलास शर्मा, श्याम बेनेगल और मेधा पाटकर के महत्वपूर्ण साक्षात्कारों से लेकर जॉक देरिदा, एजाज अहमद, रेमंड विलियम्स, एरिक फ्राम, पाउलो फ्रेयरे आदि के लेख शामिल हैं। उत्तर आधुनिकता पर बद्री रैना का भी एक लेख शामिल है। यद्यपि अंक विचारोत्तेजक है परंतु अपने आप में यह आश्चर्य का विषय है कि इसमें कई लेख अनूदित हैं और कुछ का प्रकाशन 25-30 वर्ष पूर्व हो चुका है। कुछ भी हो *पहल* ने उन्हें एक बार पुनः हिंदी पाठकों के समक्ष एक नए संदर्भ में रखने की कोशिश की है। इसी के साथ *पहल* ने एक पुस्तिका जारी की है जिसमें 10 रेड इंडियन अमरीकी कवियों की रचनाएं शामिल हैं। चयन और अनुवाद वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने किया है। साथ में कवियों का संक्षिप्त परिचय भी है। पुस्तिका से यहां एक कविता उद्धृत की जा रही है।

कवि साइमन जे ऑर्टिज का जन्म 1941 में हुआ था। उनके कई कविता संग्रह हैं। *फ्राम सेंड क्रीक* पर उन्हें 1982 में कविता का प्रतिष्ठित पुशकार्ट पुरस्कार प्रदान किया गया।

इसी वर्ष अगस्त में कहानी मासिक *हंस* ने अपने प्रकाशन के दसवें वर्ष में प्रवेश किया। इस अवसर पर *हंस* ने 'हिंदी प्रदेश में वैचारिक संकट' विषय पर एक गोष्ठी का आयोजन किया था। *हंस* संपादक और जाने-माने कथाकार राजेंद्र यादव ने बहस की शुरूआत करते हुए मुद्दा कुछ इस प्रकार रखा कि हिंदी प्रदेश

पहल

50-51



आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तरों पर पिछड़ा है पर राजनीतिक स्तर पर वह सारे देश का नेतृत्व करता रहा है। राजेंद्र जी के ही शब्दों में यदि कहा जाए तो सांस्कृतिक रूप से तो यह क्षेत्र देश के बाकी प्रदेशों पर हावी नहीं हो पाया लेकिन एक भयानक संस्कृति इसने सारे देश पर जरूर लाद दी। हिंदी प्रदेश की स्थिति को जांचने का संभवतः इतना खुला यह पहला आयोजन था। जैसा कि अपेक्षा की जा सकती थी, माहौल को गरमाने में देर नहीं लगी। पर विचित्र बात यह थी कि इस बहस ने ऐसा रूप ले लिया जिसमें कई जाने-माने वक्ता किसी तरह से यह सिद्ध करने में लगे थे कि हिंदी क्षेत्रों की स्थिति, जैसा कि *हंस* संपादक बता रहे हैं या बताना चाह रहे हैं, उतनी निराशाजनक नहीं है।

किसी भी क्षेत्र, संस्कृति, भाषा को लेकर होने वाला अनावश्यक लगाव अंततः हमें एक ऐसी स्थिति में पहुंचाता है जो हर तरह की प्रगति और गत्यात्मकता से विमुख होती है। आत्मनिरीक्षण को आत्मधिक्कार नहीं माना जाना चाहिए। यदि हिंदी भाषी क्षेत्र को अपनी सांस्कृतिक-आर्थिक प्रगति को बनाए रखना है तो उन कारणों पर, जो इसे कुंद किए हुए हैं, जानने का प्रयत्न करने में क्या कोई हानि है? ❑

बोली

साइमन जे ऑर्टिज

मैं ले जाता हूं उसे बाहर
पेड़ के नीचे
खड़ा कर देता हूं जमीन पर
हम सुनते हैं झींगुरों और पतंगों की
लाखों साल पुरानी आवाजें,

चीटियां आती हैं हमारे पास
मैं कहता हूं उनसे,
यह है वो मेरा बेटा
यह निहार रहा है तुम्हें
में बोल रहा हूं उसकी जगह,

झींगुर, पतंगे, चींटियां
और लाखों वर्ष
करते हैं हमारी निगरानी
सुनते हुए हमें।
मेरा बेटा बुदबुदाता है तोतले शब्द,

बोलते हुए मंद-मंद हंसी के
बुलबुले फूटते हैं उससे
कांपती हैं पेड़ों की पत्तियां
सुनती हैं वे
जगह।

जादुई झूठवाद के बोझिल समय में

शंभुनाथ *का मानना है कि ढोंग पर आधारित जीवन और काव्य विश्व विजय कर लें, पर वे मनुष्य की पीड़ा के दुर्ग पर बार-बार पराजित होंगे। ऐसे वैश्विक कवि (विश्व कवि नहीं) जड़विहीन होंगे। नैतिक जवाबदेही से मुक्त उनकी कविता महज एक कला होगी, जबकि कविता कभी महज कला नहीं थी।*

कवि-कर्म का इकहरा अर्थ प्रचलित है—कविता लिखना। वाल्मीकि से लेकर कबीर, तुलसी और मुक्तिबोध तक कवि-कर्म का अर्थ इतना संकुचित न था। कविता शब्द तक सीमित न थी। समाज में भी उसका स्थान सिकुड़ा न था। साहित्य को इतनी दयनीय सुरक्षात्मक स्थिति तक पहुंचाने में 'लिखित पाठ' तक सब कुछ सीमित समझने की उत्तर-आधुनिक परंपरा ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है। दरअसल पिछले दशकों में ऐसे काव्य-सिद्धांतों का प्रचार हुआ, जिनके अनुसार कविता जीवन की भाषा नहीं, भाषा का जीवन बन गई। कवि भाषा में तनावग्रस्त और उदास या नाराज और क्रांतिकारी होने लगे, भले उनके जीवन में न कोई तनाव हो, न उदासी, न कोई व्यापक नाराजगी और विद्रोह। दूसरी ओर, कविता को एक प्रति-संसार घोषित किया गया। यह कहा जाने लगा कि कविता हमें हमारे समय से दूर ऐसे सौंदर्यलोक में ले जाती है, जहां शोरगुल से राहत और मौन का आनंद है। ऐसी कविता में सच एक 'शो पीस' होता है। कविता की एक धारा अब ऐसे संसार की वकालत में खड़ी है, जहां सच होता ही नहीं। वहां होती हैं केवल अनगिनत दृष्टियां और रंगे हुए दृश्य। इस संसार में सच कहना एक फासिस्ट प्रवृत्ति है, एक सच कहना दूसरे सच को दबाना है। अतः लिखो, अपने को उघाड़ने के लिए नहीं, अपने को ढकने के लिए। सच मत लिखो। इतने सारे ढोंग बाजार में प्रचलित हैं, तब ढोंग ही जियो और ढोंग ही लिखो। इस [illegible] कविता का स्वराज पूरी तरह विसर्जित हो जाता है—स्वायत्तता [illegible] जाती है अराजक भू-मंडलीय बहुलता।

अराजक भू-मंडलीय बहुलतावाद जीवन की तरह कविता को भी ढोंग का मुखौटा बना देता है। अशोक वाजपेयी ने पश्चिमी उत्तर-आधुनिकतावाद का भारतीय अनुकरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है, 'साहित्य को सत्य की तानाशाही या सर्वसत्तावादिता के बरक्स सच्चाई की किंचित अराजक बहुलता चाहिए। साहित्य का एक जरूरी कर्तव्य इस बहुलता का दबाव विश्व में बनाए रखना है।' 'भीड़' में भी बहुलता होती है, पर 'समाज' में बहुलता के साथ 'अखंडता' भी जरूरी है, भारतीय समाज में यदि 'बहुलतावाद' 'अखंडता' पर आधारित न हो, इस समाज के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं। कविता में 'विशिष्ट' के साथ 'सामान्य' न हो, वह 'स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल' में फंस जाए। कविता में अज्ञेय 'सत्यान्वेषण' करते थे। अब वह नई दृष्टि से तानाशाह माने जाएंगे, सच कहकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले रचनाकार। निश्चय ही हमारा बहुलता का परिप्रेक्ष्य वही नहीं हो सकता, जो भू-मंडलीय पूंजीवाद का है। अतः हमारे काव्य का सच भी वही नहीं होगा, जो भू-मंडलीय पूंजीवाद के संचार-माध्यमों का है। समस्या संचार माध्यमों द्वारा मनुष्य पर लादे जा रहे झूठ के सर्वसत्तावाद या झूठ की तानाशाही की है, सत्य की तानाशाही की नहीं। यदि कोई रचनात्मक सच है—व्यक्ति का सच, देश का सच या सृष्टि का सच, वह सर्वसत्तावादी हो ही नहीं सकता। यदि कविता कुछ ऐसा सार्वभौम कहने का दावा कभी करती, जो अंतिम हो तो वाल्मीकि के बाद दूसरा कवि नहीं होता। एक कविता-आंदोलन के बाद दूसरे कविता-आंदोलन नहीं आते। कविता गति में है, क्योंकि सच भी निरंतर यात्रा में है।

ढोंग पर आधारित जीवन और काव्य विश्व विजय कर लें, पर वे मनुष्य की पीड़ा के दुर्ग पर बार-बार पराजित होंगे। ऐसे वैश्विक कवि (विश्व कवि नहीं) जड़विहीन होंगे। नैतिक जवाबदेही से मुक्त उनकी कविता महज एक कला होगी, जबकि कविता कभी महज कला नहीं थी। आप पूछेंगे, क्या रीति काल में भी नहीं थी? हां, जिस तरह गौरवशाली भक्ति काल के बाद रीति काल आया था, उसी तरह गौरवशाली आधुनिक काल के बाद यह उत्तर-आधुनिक काल है—यह विकसित रीति का काल है। इस काल में भू-मंडलीय जीवन के ढोंग और कविता के ढोंग में फर्क मिट जाएगा। सच का स्थान जीवन में नहीं होगा और कविता में भी नहीं।

क्या सचमुच सच को बहिष्कृत किया जा सकेगा? पुराने आधुनिक कवियों का जीवन बहुत अनुकरणीय न हो, उनके वैयक्तिक जीवन में गहरा अकेलापन और अराजकता हो, फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में सच कहने की कोशिश की थी। उन्होंने अपनी पृथ्वी को अधिक सुंदर, अधिक रहने योग्य और अधिक संभावनापूर्ण बनाया था। खुद पीड़ा में उतरकर दूसरों को आनंद की अनुभूति कराई थी। अंतर्मुखी, उदास और कभी-कभी सनकी होने के बावजूद रचनात्मकता के स्तर पर अपनी सामाजिक जिम्मेदारी से कन्नी नहीं काटी। किसी कवि को जीवन में समझौते करने पड़े हों, पर रचनात्मकता के स्तर पर उसने कभी समझौता नहीं किया। संभव है, वह कामुक रहा हो, उसने बहुत-सी स्त्रियों से प्रेम किया हो, पर महान रचनाएं भी दीं। फोटो अंधेरे में डेवलप किया जाता है, आधुनिक रचनाकारों के जीवन में कोई अंधेरा हिस्सा था, जहां वे अपनी रचना का सच 'डेवलप' करते थे। आंद्रे जीद ने कहा था, 'ऐंद्रिकता, कामुकता और स्वाभिमान के बिना कला

का कोई काम नहीं हो सकता'। क्रांतियों में शरीक कई कवि भी अपने वैयक्तिक जीवन में अकेले और अराजक थे। हम बच्चों से नहीं कह सकते कि उन आधुनिक कवियों-लेखकों के व्यक्तिगत जीवन का अनुकरण करो, मसलन भारतेंदु के जीवन का। पर यह कह सकते हैं कि उन्हें पढ़ो। उनके जीवन का सच रचना के सच से अलग जरूर था, पर वह ढोंग न था। उनकी रचना का सच जीवन के व्यापक सच से जुड़ा था।

जब कविता के स्तर पर भी सच को विदाई दे दी जाएगी और नैतिक जवाबदेही नहीं बचेगी, तब उस कोने में निपट अंधेरा होगा, जहां आकर आदमी अपने को पहचानता है और शब्द अपने कृत्रिम रंग उतारते हैं। जीवन में झूठ और कृत्रिमता का संसार विस्तृत हो रहा है। फलतः साहित्य में भी झूठ और कृत्रिमता पनप रहे हैं। बीसवीं सदी के आखिरी दशक में यह प्रवृत्ति बढ़ी है। अब कवि और लेखक पुराने आधुनिक रचनाकारों की तरह अकेले, उदास और सनकी नहीं, बल्कि चतुर और व्यवस्थित हैं। वे इतने सिद्धहस्त कलाकार हैं कि जो अनुभव नहीं किया, वह भी बड़े मार्मिक ढंग से पेश कर सकते हैं। फिर भी पाठक जान ही जाते हैं कि उनके शब्द के पीछे क्या है। इसीलिए आज के साहित्य और साहित्यकार का सामाजिक स्थान सिकुड़ता जा रहा है, साहित्य हाशिए पर से भी बहिष्कृत है।

निःसंदेह कविता से क्रांति का काम लेने वालों ने भी शब्द के भीतरी नैतिक आग्रहों की उपेक्षा की। उन्होंने काठ के तवे पर रोटी सेंकी। कविता न आरामकुर्सी है, न ही पी.टी. का मैदान। कविता या कोई भी रचनात्मक लेखन वैसा काम नहीं है, जैसा व्यापार और राजनीति, जहां दांवपेच चलते हैं और सत्ता की उत्तेजना होती है। यह फुर्सत का काम भी नहीं है। पता नहीं कैसे आज लेखक की मौत पर चर्चा होती है, जबकि न केवल लिखने के लिए प्रचुर जीवन-सामग्री है, बल्कि पाठक भी अच्छे लेखन की तलाश में हैं। उन्हें फिलहाल छपा हुआ बहुत कुछ मिल रहा है और जितनी मुद्रित सामग्री अभी उनके सामने है, कभी नहीं थी। फिर भी कोई वजह होगी कि समकालीन लेखन में वे उतना रम नहीं पाते, जितना कभी कालिदास के लालित्य, कबीर के विद्रोह, रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रेम और प्रेमचंद के संघर्ष में रमते थे। संभवतः वहां वे केवल शब्द नहीं, एक धड़कते जीवन की वास्तविक गरमाहट भी पाते थे। शब्द में जीवन की वास्तविक गरमाहट पैदा करना एक साधना है, महज कौशल नहीं।

औद्योगिक समूहों की निगाह में संगीतकार, अभिनेता, खिलाड़ी, चित्रकार की तरह कवि भी अचानक क्यों महत्वपूर्ण हो गए? कवि भी अब कौशल का महत्व समझने लगे हैं—भावना से बड़ी चीज है कौशल। बाजार भी कवित्व और सौंदर्य का महत्व जानता है। वह खुद एक बड़ी सत्ता है और बड़े मजे से तिल को ताड़ और ताड़ को तिल बना सकता है। इससे यह भी समझ में जरूर आना चाहिए कि कवित्व और सौंदर्य में ऐसी ताकत जरूर है, जिससे बाजार की इन पर इतनी लालच भरी नजर है। बाजार इन्हें राष्ट्रीय परंपराओं से काटकर माल बना देना चाहता है, जो काम उसने संगीत, चित्र या अभिनय कलाओं के साथ किया। निश्चय ही कविता के साथ अधिक देर तक चालाकी नहीं चल सकती, वह 'बूमरैंग' करती है। उसे अंतिम रूप से रीढ़ विहीन और प्रदूषित करना संभव नहीं है। वह मानवता का सबसे निश्छल ही नहीं, सबसे अधिक लोकतांत्रिक रचनात्मक माध्यम है। फिर भी जीवन के वृहत्तर सत्य से निरपेक्ष काव्य-सत्य पर जोर देकर, काव्य-सत्य की नैतिक आंच को बुझा उसे महज कला के सत्य में सीमित करके या विभिन्न प्रलोभनों द्वारा कवियों को सामयिक रूप से विचलित करके जीवन और काव्य के बीच दीवार उठाई ही जा रही है।

कविता भाषा का चरम वैभव है, वह भाषा की एक जबर्दस्त ताकत है। बड़े संचार माध्यमों ने भाषा पर घृणित हमला शुरू कर दिया है, इसलिए जीवन के काव्यात्मक तत्व कुचले जा रहे हैं। अत्याधुनिक संचार माध्यमों ने ध्वनि-संकेतों तथा दृश्य-संकेतों की दुनिया में एक ऐसा विस्फोट ला दिया है कि मनुष्य की भाषा ही नहीं, उसका यथार्थबोध भी क्षतिग्रस्त हो रहा है। अर्थ की अवधारणा ही व्यर्थ हुई जा रही है। अर्थ हमेशा निर्भर करता है 'साझी चेतना' पर। अब मानो निर्धारित किया जा रहा है कि समाज में 'साझी चेतना' की कोई जरूरत नहीं है। इसलिए अर्थ की भी कहीं कोई जरूरत नहीं है। मानो यह बताया जा रहा है कि जो मातृभाषा मसलन हिंदी, बंगला या तमिल हम पढ़ते-लिखते हैं, उसकी अब कोई खास जरूरत नहीं है। प्राचीन युगों के लोभी युद्धोन्मादी नगरों में घुसते थे तो केवल लूटपाट नहीं मचाते थे, जो कुछ भी अच्छा दिखता था उसे तोड़ डालते थे। शिलालेख और भवन तोड़ डालते थे, विश्वविद्यालय जला देते थे, कुओं की जगत ढहा देते थे और लौटते समय सड़कों के चिह्न खत्म कर देते थे। केवल नहीं बदल पाते थे जलवायु, वनस्पतियां और जीव। भाषा पर आज का हमला वैसा ही है, क्योंकि नव-औपनिवेशिक विकास की नजर में भाषा महज माध्यम है। कोई राष्ट्रीय पहचान और सामाजिक थाती नहीं। आज का कवि समूह-संस्कृति से परेशान है। वह अपनी निजता या अंतरंग संसार को बचाना चाहता है। फिर भी, भाषा और चीजों के अर्थ को बचाए बिना, समाज में व्यापक साझी चेतना को बचाए बिना क्या वह अपनी निजता को थोड़ा भी बचा पाएगा? क्या समाज को बचाए बिना भाषा को बचा लेगा? ये ही वे सवाल हैं, जो कवियों को अपनी भाषिक और सामाजिक भूमिका के बारे में नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर करते हैं।

उत्तर-आधुनिक समाज एक ऐसा समाज है, जिसमें प्राचीन मानवीय आदर्श ही नहीं, आधुनिक क्रांतियों के राष्ट्रीय-लोकतांत्रिक आदर्श भी मुरझाते जा रहे हैं। एकतरफा सूचना-प्रवाहों और उपभोक्तावाद ने राष्ट्रीय संस्कृति और राजनीति को भू-मंडलीकरण की ओर ढकेल दिया है। भू-मंडलीय विकास की नई ताकतों ने जीवन के हर क्षेत्र में अपने साम्राज्यवादी तत्व और सूत्र इस तरह बैठा दिए हैं कि हम इसे बिना सैनिक मदद के इस सदी की सबसे बड़ी फतह कह सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि तेजी से फैलता-फूलता नया मध्य-वर्ग इस आक्रमण का मीर जाफर है। श्रमिकों को यह सोचने पर मजबूर किया जा रहा है कि वे अपने श्रम की गरिमा भूल जाएं। वे अपने को मुख्यतः उपभोक्ता समझें और सिर्फ सुख की तलाश करें। विद्यार्थियों से कहा जा रहा है कि ज्ञान और कल्पनाशक्ति की अब जरूरत न[illegible] केवल प्रवीण हो, जयी बनो और उधर ही बढ़ो जिधर कुछ उपयोगी[illegible] व्यापारियों से कहा जा रहा है—देशप्रेम छोड़ो, मुनाफा देखो। आम न[illegible] से कहा जा रहा है, अब तुम भू-मंडल पर हो।

भारतीय आत्मविश्वास दयनीय त्रासदी की ऐसी सीमा पर है, जिसके थोड़े ही पार आत्मविसर्जन का एक गहरा खड्ड है। हमारे देश में महान संग्रामों, आंदोलनों और विद्रोहों की विफलताएं ही नहीं, ऊंची परंपराएं भी हैं। फिर भी हजारों साल से मन में समाई आत्मतुच्छता को जब शंकर भी 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर दूर नहीं कर सके, तो महज डेढ़-दो सौ साल के पिछले धीमे तूफानों से उसकी जड़ें क्या उखड़तीं? यह आत्मतुच्छता का ही नतीजा है कि हमारे समाज में कोई आदमी जरा-सी सत्ता हाथ में आते ही अपने को लाट-गवर्नर समझने लगता है और थोड़ी सत्ता हाथ से निकलते ही अकिंचनता से भर रह जाता है। जरा-से सुख के लिए वह किसी भी हद तक पतित हो सकता है और थोड़े दुख में कहीं भी झुक सकता है।

पृष्ठ 45 पर जारी

विद्रोही नारी-पात्रों की चितेरी

सूर्यनाथ सिंह

प्रथम विश्व युद्ध के बाद बंगला साहित्य की विधाओं को रूमानियत और रहस्यात्मकता के दलदल से खींचकर यथार्थ की कठोर जमीन पर ला खड़ा करने का जो प्रयास 'कल्लोल' और 'भारती मंडल' के रचनाकारों ने किया, उसी की एक स्वतंत्र एवं गंभीर धारा आशापूर्णा देवी हैं। सचमुच अनुवाद न हो पाने की स्थिति में विश्व-साहित्य के लिए उनका नाम अपरिचित अवश्य है, किंतु भारतीय कथा-साहित्य के विस्तृत फलक पर जो दिन-प्रतिदिन की घर-परिवार की समस्याओं और नारी जीवन की जटिलताओं के चित्र उन्होंने उकेरे हैं वे अनूठे और अविस्मरणीय हैं।

आशापूर्णा देवी का जन्म 8 जुलाई 1909 को उत्तरी कलकत्ता के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। पिता चित्रकार थे। मां गृहिणी थीं, किंतु उन्हें साहित्य से बेहद लगाव था। आशापूर्णा देवी के ही शब्दों में, 'मां की पढ़ाई कुंभकर्ण की भूख थी। घर में बहुत सारी पुस्तकें आती थीं, खरीदकर भी और पुस्तकालयों से भी। उस समय मिलने वाली प्रायः समस्त पत्र-पत्रिकाएं मां घर में मंगाती थीं।'



घर का वातावरण बहुत अनुशासनपूर्ण था। [redacted]की स्कूली शिक्षा का कोई रिवाज नहीं था। [redacted]ल जाते थे। बहनें अक्षरज्ञान प्राप्त कर घर [redacted]कहानी, उपन्यास पढ़तीं और संगीत, चित्रकला आदि सीखतीं। घर से बाहर निकलने के अवसर बहुत कम थे। बचपन में, एक छोटी-सी बिटिया मां की अलमारी से कोई किताब निकालकर घर के किसी कोने में बैठ जाती और पढ़ती रहती। बाहरी दुनिया की कल्पना किया करती। नदी, पहाड़, शहर, गांव—सब कुछ देखना चाहती। किसी बड़े स्कूल में जाकर बहुत सारी किताबें पढ़ना चाहती, किंतु घर की रूढ़िगत मान्यताओं में इसकी कोई संभावना नहीं थी। घर में पिता से मिलने आए किसी मेहमान चित्रकार या साहित्यकार को वह पर्दे के पीछे से झांककर देखती। छुपकर उसकी बातें सुनती। पिता के सामने बैठक में आकर किसी मेहमान से बात करना घर की मर्यादा के विरुद्ध था। वह लोगों से मिलना चाहती पर नहीं मिल पाती। वह खीझती, कुढ़ती और सोचती—काश, वह किसी गरीब घर में पैदा हुई होती, तो उसे स्वतंत्रतापूर्वक घूमने का अवसर तो मिलता! या फिर अत्यंत अमीर घर में ही पैदा हुई होती। वहां भी इस तरह की बंदिश तो न होती। फिर सोचती, जल्दी से शादी हो जाए तो पति से जिद कर अपने मन की तो कर सकती है। कितना अच्छा हो, यदि पति रेलवे कर्मचारी हो! तब घूमने का अवसर तो मिलेगा। पति लाइब्रेरियन हो तो भी चलेगा, पढ़ने की आजादी रहेगी। ढेर सारी किताबें मिलेंगी। घर के कोने में बैठे-बैठे कहानी; उपन्यास पढ़ते-पढ़ते बिटिया कब बड़ी हो गई, उसे पता भी न चला। पंद्रह साल की उम्र में शादी हो गई। पति दोनों में से एक भी न था। बैंक का कर्मचारी निकला। संभावनाएं समाप्त! बिटिया पिता के घर से निकलकर पति के घर में कैद हो गई। पूरी तरह गृहिणी। यह आशापूर्णा देवी थीं।

मां के साहित्यानुराग के चलते घर में उन्हें पुस्तकों का सहज संसर्ग तो अवश्य प्राप्त हो गया था, किंतु स्कूली शिक्षा न मिल पाने के कारण बंगला साहित्य के बाहर की दुनिया से वह अंततः अपरिचित ही रहीं। उन्हें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं था, अतः विश्व साहित्य की हलचलों से वह अपरिचित ही रहीं। शायद इस बात की टीस उनके मन के भीतर कहीं न कहीं अंत तक दबी रही। जिस दिन उनकी भतीजी नवनीता देवसेन पढ़ाई के लिए अमरीका जा रही थी, बुआ से मिलने आई। उन्होंने उसे गले से लगा लिया और प्रफुल्लित नेत्रों से निहारते हुए बोलीं, "हम औरतों के बीच से तुम पहली लड़की हो जो स्कालरशिप पर पढ़ने के लिए विदेश जा रही हो—तुम्हारे साथ मैं भी जा रही हूं। यह बात मैं चुपके से तुम्हें ही बता रही हूं।"

लगभग डेढ़ हजार से भी अधिक कहानियों और 173 उपन्यासों के विराट रचना-संसार को उन्होंने घर की खिड़की से झांककर देखा है। उन्होंने कभी राजनीति अथवा समाजसेवा करने वालों के ऊपर नहीं लिखा। साहित्यिक गोष्ठियों या बैठकों में नहीं गईं। किसी विचारधारा अथवा आंदोलन से नहीं जुड़ीं। वह एकांत भाव से लिखती रहीं—सिर्फ कहानी और उपन्यास।

शुरूआत बच्चों के लिए लिखने से हुई। उनकी पहली रचना 'बालसाथी' एक बाल पत्रिका में ही छपी थी। *आनंद बाजार पत्रिका* की वार्षिक पत्रिका में 1938 में बड़ों के लिए उनकी पहली रचना छपी थी 'पत्नी ओ प्रेयसी'।

पृष्ठ 13 पर जारी

चश्मा

आशापूर्णा देवी

"क्यों, अभी तक तुम्हारा हुआ नहीं?"

अपने भीगे हुए अस्त-व्यस्त बालों को खींच-खींचकर सुलझाते हुए सद्यःस्नाता असीमा रसोईघर के दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई और झुंझलाहट भरे स्वर में बोली, "विचित्र बात है!"

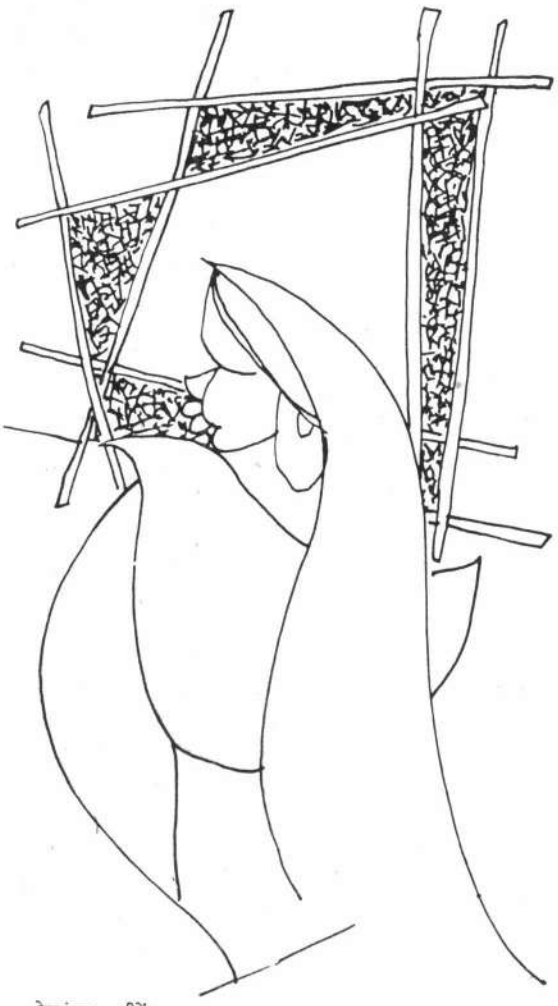
हालांकि उस कमरे में ऐसी कोई विचित्र घटना नहीं घटी थी। जलते हुए चूल्हे पर कड़ाही चढ़ी हुई थी, आरती उस कड़ाही में जल्दी-जल्दी कलछी चला रही थी, आसपास बर्तन-भांडे, देगची आदि बिखरे पड़े थे। रसोईघर के इस अत्यंत स्वाभाविक दृश्य के भीतर असीमा ने न जाने कौन-सी विचित्र बात देख ली, यह तो उसे ही पता होगा, तभी तो उसने कहा, "विचित्र बात है!"

किंतु आरती ने कोई सवाल नहीं किया। उसने यह नहीं पूछा कि इसमें कौन-सी विचित्रता दिखाई दे गई तुम्हें? बल्कि अपराधी स्वर में बोली, "होगा क्यों नहीं! सब कुछ हो गया। सिर्फ यही मछली तलने को रह गई है, देर से बाजार से लाई गई थी न। यह भी हो ही चली है, वो तुमने तो अभी तक साड़ी भी नहीं बदली बदलकर आ जाओ। दे रही हूं .....।"

असीमा जल्दी-जल्दी अपने भीगे बालों की चोटी बनाती हुई तेज स्वर में बोली, "रोज-रोज एक ही बात बोलते-बोलते तुम्हारा मुंह भी नहीं थकता, मां! हम तो सुन-सुनकर थक गए हैं। धन्य हो तुम भी! तुम अपने इस भात के बंधन से मुक्ति दे दो। सवेरे-सवेरे ज्यादा नहीं सिर्फ दो टोस्ट ही मुझे दे दिया करो, वही मेरे लिए पर्याप्त होगा। इस अंगार निगलने से तो वह लाख गुना बेहतर होगा।"

आरती की गर्दन झुकी हुई थी इसीलिए उसका चेहरा नहीं दिख पाया। सिर्फ लज्जा भरा स्वर सुनाई पड़ा, "ठंडा भात! लो अभी ठंडा हुआ जाता है, बाबा!"

भाप निकलते हुए भात को आरती ने कई एक थालियों में निकालकर खाने की मेज पर रख दिया और एक ताड़ के पंखे से जल्दी-जल्दी हवा करने लगी।



रेखांकन : वीरेंद्र

थाली के एक तरफ थोड़ी-सी आलू की भुजिया, तले हुए बैंगन के दो टुकड़े और एक कटोरे में झोल, बस सामग्री के नाम पर इतना ही।

असीमा इस तरफ देखकर एक व्यंग्यपूर्ण हंसी हंसते हुए बोली, "ओ बाबा! इतने सारे व्यंजन! इस्स! तभी तो इतनी देर लगी।"

आरती ने अचानक दूसरी तरफ मुंह फेर लिया। पंखे से पानी के गिलास में ठोकर लग गई।

"रहने दो, रहने दो! अब और हवा करने की जरूरत नहीं है, अगर यह पानी फेंककर दूसरा पानी दे दो तो बड़ी प्रसन्नता होगी।"

असीमा ने अपने बाल संवारे, हाथ को गिलास के पानी से धो लिया और टेबुल के नीचे ही पानी बिखराकर कुर्सी खींचकर बैठ गई। जैसे मां के ऊपर बहुत बड़ा अहसान कर रही हो।

इसी समय अतनु बाथरूम से बाहर निकला और तौलिये से सिर रगड़ते हुए बोला "वाह, यह तो ज्यादती है, मां! बेटी को तो बड़े दुलार से खाने पर बिठा दिया। लगता है, मुझे कालेज-वालेज नहीं जाना है?"

इस बार आरती इस तरफ मुंह घुमाकर बोली, "तुम्हारा तो दीदी से थोड़ा बाद में! पिताजी. ..."

"इसीलिए इतने [redacted] बैठी हो", अतनु कमरे में [redacted] हुए बोला, "मेरा भी समय हो गया है। फटाफट करो। एक मिनट में .....।"

आरती फिर उसी तेजी से रसोईघर में घुसी। उसी तरह थाली में भात निकालकर ले आई और टेबुल पर रख दिया।

अतनु कमरे से बाहर निकलकर आया और बोला, "हो गया? गुड?"

असीमा हंसकर बोली, "सिर्फ गुड क्यों रे? बोलो, बेरी गुड। इतनी

सुबह इतने सारे व्यंजन बनाना और भोजन कराना क्या इतना आसान काम है?"

असीमा बचपन से ही खाने-पीने के मामले में मीन-मेख निकालने वाली रही है। जब तक उसकी थाली के पास कई तरह के व्यंजन नहीं होते तब तक वह प्रसन्न नहीं दिखती, उसका मिजाज खराब हो जाता है। इसके अलावा—अगर उसी मछली को जैसे-तैसे बनाकर उसकी थाली में रख दिया जाता है तो गुस्से से उसका माथा जल उठता है। उसे चार-पांच तरह की मछली खाने का भले शौक न हो किंतु एक ही तरह की मछली ठीक से भरपूर तेल में तली हो तथा सरसों और कच्ची मिर्च के झोल में डालकर बनाई गई हो तो कितना अच्छा हो, लेकिन इतना भी नहीं हो पाता। हालांकि .....

असीमा मन ही मन बड़बड़ाती रही—"हालांकि यह भद्र महिला एकदम सवेरे मुंह अंधेरे ही जाग जाती हैं और घर के कामों में जुट जाती हैं। वह इतनी सुबह से पता नहीं क्या करती रहती हैं! यही झोल-भात बनाते-बनाते इनकी हंफनी छूटने लगती है। बात तो करेंगी दाल-भात की लेकिन दाल पका ही नहीं पातीं। हफ्ते में पांच दिन झोल ही बनाती हैं। पिताजी तो पेट के मरीज हैं, उन्हीं के लिए यह झोल बनाया जाता है, वह तो निकलेंगे ग्यारह बजे। तब भी तुम इतना ही हांफोगी। कभी मैंने इस भद्र महिला को स्थिर और चैन से सांस लेते नहीं देखा। हमेशा ही जैसे काम के बोझ [redacted] दबी कराह रही हों!"

[redacted]नु ने जल्दी-जल्दी आलू-भुजिया के साथ [redacted]ड़े-बड़े कौर खा लिए और बोला, "यह अनुभव करने की बात है बाबा, कभी तुमने इस चीज को अनुभव किया! आजकल के बाजार भाव में तो भोजन जुटा पाना ही अपने आप में बहुत सौभाग्य की बात है।"

या तो उसने मां के ऊपर व्यंग्य करते हुए ऐसा कहा या बाजार शब्द का उल्लेख करते हुए कोई बहुत ही पेचीदा बात बोलकर आनंदित हो रहा था। किंतु आरती को लगा कि अतनु भी उसके ऊपर व्यंग्य कर रहा है।

आरती की आंखों में पानी भर आया।

ऐसा नहीं कि आरती इसका कोई कड़ा जवाब नहीं दे सकती, इसलिए उसकी आंखों में पानी भर



रेखांकन : वीरेंद्र

आया। बेटे-बेटियों के लिए खाना ठीक से नहीं बन पाया है, उनकी पसंद का नहीं बन पाया है, इसलिए उसकी आंखों में आंसू भर आए हैं।

ये तो चले जाएंगे, फिर पता नहीं कब तक लौटेंगे!

किंतु क्या सारा दोष मेरा ही है?

आरती मन ही मन कुढ़ रही है—अपने बाप का दोष नहीं देखते? थोड़ा सुबह बाजार तो जाएंगे नहीं। सुबह का वक्त तो चाय पीते हुए अखबार पढ़ने में ही गुजार देते हैं। जिस समय वह मछली लेकर आते हैं तब से उसे काट-कूटकर तरकारी बनाने का समय रहता है? सारा काम तो इन्हीं दो हाथों से करना है। अगर मछली थोड़ा पहले आ जाती तो काम करने वाली लड़की प्रमिला ही जाने से पहले काट कूटकर धो-धाकर रख जाती। लेकिन ऐसा तो किसी दिन हो नहीं सकता। मालिक अपनी मालिकगिरी दिखलाते हुए यह जरूर बोलेंगे कि 'उसे जाने क्यों दिया? बोल नहीं सकती थीं कि रुक जाओ मछली आएगी तो काट-कूटकर जाना।'

आरती इस बुड़बक आदमी को कैसे समझाए कि आपकी मां और दादी की जमींदारी अब नहीं रही, इस जमाने में मजदूर-नौकरों के ऊपर आंख लाल करने और जोर-जबर्दस्ती करने से नहीं चलेगा। इस बात पर आरती को और भी कुढ़न-सी होने लगी। इसके अलावा इतनी चार-पांच सेर तो मछली ले नहीं आते हो कि घंटा भर उसे बिठाए रखूं। अगर वो हंस पड़े? यदि कह दे, 'क्या यही आधा सेर मछली काटने के लिए ही मुझे आधे घंटे से बिठा रखा था, मां जी?' तो क्या उस शर्म में तुम भी हिस्सेदार होगे?

शायद सुनने के बाद पिनपिनाकर बोल उठोगे, 'भगा दो, इसी वक्त भगा दो हरामजादी को!'

एक को भगाकर, दूसरी को ढूंढ़कर लाने में कितना समय खर्च होता है, यह बात मालूम है मालिक को? इसके अलावा दूसरी जो आएगी वह इससे ज्यादा बातूनी नहीं होगी, इस बात की कोई गारंटी दी जा सकती है?

इस जवान के घमंड के नीचे कितना अपमान दबा पड़ा है, इसका अंदाजा है तुम्हें?

अपमान! अपमान! हर पल हर क्षण कितनी लज्जा और कितने अपमान के बीच आरती को यह कोल्हू खींचना पड़ता है, इसका हिसाब रखने वाला है कोई?

कोई नहीं! अपने पेट के बेटे-बेटियां भी नहीं। बल्कि वे भी इस अपमान के उपकरण ही हैं। तभी तो वे अनायास व्यंग्य करते हुए बोलते हैं, 'भोजन जुटा पाना ही बहुत सौभाग्य की बात है!' .... बोलते हैं, 'ओह, कितने सारे व्यंजन!'

तुम्हारे बाबू एक वक्त की बाजार से ले आते

हैं और कहते हैं कि इसी में तीन वक्त चलाओ, वह तो तुम लोग देखते नहीं। मैं उनसे जो प्रतिवाद करती हूं वह भी तो नहीं सुन पाते। भंडार में सामग्री खत्म होने पर चुपके से डरती-डरती अगर कहती हूं कि 'यह चाहिए' तो सुनते ही एकदम से चिल्ला कर पूरा मुहल्ला सिर पर उठा लेते हैं और बोलते हैं, 'इतना चाहने से काम नहीं चलेगा। मैं अब बोझ नहीं उठा पाऊंगा। तुम्हारी रावण मंडली को खिला पाने की क्षमता अब मुझ में नहीं रही।' तब? बेटे-बेटियां खाना-पीना छोड़ देंगे?

चार बेटे-बेटियां, यह मेरी ही रावण मंडली है! किंतु प्रतिवाद क्या करे? प्रतिवाद करने से परिवार में कलह का वातावरण ही तो बनेगा।

विशेष रूप से यह बड़ी बेटी!

हर समय जैसे सांप की तरह दंश मारने के लिए ही तत्पर रहती है। पता नहीं क्यों, आरती समझ नहीं पाती। हायर सेकेंडरी पास करने के बाद से ही तो बाप ने पढ़ाई-लिखाई छुड़ाकर घर में बिठा दिया था। कारण बताया था, 'इसी साल चटपट शादी कर दूंगा।' दरअसल वह इसके ऊपर अब और खर्च नहीं करना चाहते थे, इतना तो आरती समझती थी, बाकी कारण वह समझ नहीं सकी।

किंतु आरती का प्रतिवाद घर में कहां चल पाता है?

आरती अपनी आवाज को खींचकर दूसरे की आवाज के ऊपर रख नहीं पाती, यही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है।

आरती अपमान की आग में जलती रहती है। प्रतिक्रियास्वरूप अपमान करना नहीं जानती, इसलिए असहायतावश रो पड़ती है।

फिर आरती ने क्या कभी ऐसा भी सोचा था कि असीमा उसके साथ ननद की तरह व्यवहार करेगी?

चार साल तक घर में बिठाए रखकर भी जब पिता असीमा की शादी करने में सफल नहीं हुए तब क्या आरती ने ही अनुनय-विनय करके पति को बहला-फुसलाकर उसे कालेज में भर्ती करवाने पर राजी नहीं किया था?

असीमा को भी राजी कराना पड़ा था।

वह तो गुस्से से ऐंठी बैठी थी—'मैं इस बूढ़ी उमर में छोटी-छोटी लड़कियों के साथ पढ़ने नहीं जा सकती।'

तब आरती ने उसे तोते की तरह सिखाया नहीं था?—"शिक्षा ही शक्ति है। शिक्षा ही पैरों तले की जमीन है। अनपढ़ औरतें ही पढ़े-लिखों की मार खाती हैं। पिता कब तक शादी कर पाएंगे! उनके भरोसे बैठे रहना ठीक नहीं है। तब तक तुम पास-वास करके अपने पैरों पर खड़ी होने की कोशिश करो। जरा सोचो, मेरी तरह तुम भी अर्थहीन जीवन किस तरह जी सकोगी? तुम पढ़-लिखकर आदमी बनो।"

दिन भर सो-सोकर और कहानियों की किताबें पढ़-पढ़कर मोटी हो चुकी असीमा ने बहुत ही अनिच्छापूर्वक कालेज में एडमीशन लिया था किंतु भंगिमा ऐसी थी जैसे मां के ऊपर बहुत बड़ा अहसान किया हो।

आरती ने अपनी बेटी को अपने पैरों पर खड़ी होने की मंत्रशिक्षा दी थी, क्या इसलिए कि अंततः बेटी जिस जमीन पर खड़ी हो उसी से अपनी मां के हृदय को क्षत-विक्षत करे?

क्षत-विक्षत ही तो?

फिर भी बहुत सारी मूर्खताओं द्वारा क्षत और बहुत सारे अनुत्तरित प्रश्नों द्वारा विक्षत वही हृदय सहनशीलता के आवरण में खुद को लपेटे हुए घर को चलाए जा रहा है। खाते वक्त यदि कभी बेटी को कुछ कम पड़ जाता है और वह बहुत ही रुष्टता से उसका मजाक उड़ाना शुरू कर देती है तो आरती जल्दी से दूध, अमचूर, अचार, गुड़ आदि लाकर उसकी थाली के पास रख देती है। वह अपने पति की तरह यह नहीं कहती कि 'इससे ज्यादा मुझसे नहीं हो सकेगा!'

किसे पता है कि यह बोलने से वे चुप ही लगा जाएंगे!

एक पक्ष के शुरू होते ही दूसरा पक्ष चुप लगा जाता है। शायद यही नियम है।

किंतु आरती ऐसा नहीं कर पाती।

आरती सिर्फ मन ही मन कुढ़ती रहती है।

आरती की बेटी जब आधा भात खाकर उठ जाती और बोलती कि "अपना दूध और अचार रहने दो, मां! इतना प्यार नहीं पच पाएगा, सुबह से ही तो सुन रही हूं कि खाना बना रही हूं, खाना बना रही हूं, फिर भी...."

तब आरती उसे डांटकर बोल नहीं पाती कि 'तुम कालेज जाने लगीं, इसका मतलब यह नहीं है कि तुमने मुझे खरीद लिया है। घर का एक तिनका नहीं उठा सकतीं और ऊपर से बातें इतनी बड़ी-बड़ी!'

बोल नहीं पाती और कुढ़ती रहती है। सवेरे से ही मैं खाना बनाना शुरू कर देती हूं, दोनों छोटों को सवेरे 6 बजे ही भेजने के लिए मुझे कौन-सा भोग भोगना पड़ता है, देखते नहीं? क्यों, एक भी दिन तो अपने शरीर को थोड़ा कष्ट देकर उन्हें तैयार नहीं करा सकते? मैं ही उन्हें जगाती हूं, नाश्ता तैयार करती हूं, खिलाती हूं, कपड़े और जूते पहनाकर तैयार करती हूं, तब कहीं वे स्कूल जाकर मेरा उद्धार करते हैं। इसके बाद चूल्हे में आग जलाती हूं। दिन निकलने पर काम करने वाली लड़की आती है। तरकारी काटती हूं, मसाला पीसती हूं, तुम लोगों के जागरण से कृतार्थ होकर चाय बनाती हूं, टोस्ट लगाती हूं। अगर तुम लोग एक साथ खा-पीकर उपकृत करते तो शायद मैं बच भी जाती, लेकिन तुम लोग ऐसा क्यों करने लगे—एक बार बाप, एक बार बेटा और एक बार बेटी! तीन लोग तीन बार में! उसे भी तो मुझे ही संभालना पड़ता है। इन सबसे छुट्टी मिलेगी तभी तो खाना बनाऊंगी? फिर भी क्या इच्छानुसार कुछ बना पाती हूं? अनाज का थैला उठाती हूं तो सोचना पड़ता है कि रात के लिए क्या रखा जाए! .... और बेटी जब तुम खाने बैठती हो तो तेवर दिखाती हो।

'चली जाऊंगी। एक दिन यह घर छोड़कर चली जाऊंगी!' आरती यही संकल्प पाठ करती रहती है।

किंतु ठीक यही बात इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सोचता है। हर क्षण, प्रतिपल।

घर के मुखिया तो सोचते ही नहीं, स्पष्ट स्वर में बोलते भी रहते हैं, "चला जाऊंगा। इस घर को आग लगाकर सबको अंगूठा दिखाकर एक दिन चला जाऊंगा।"

वह अतनु नामक लड़का भी सोचता रहता है, वह खिच-खिच भरे माहौल में बिल्कुल नहीं रहना चाहता, इसीलिए गुमसुम बना रहता है। पढ़ाई-लिखाई जैसे ही खत्म हो, इस घर से कट लेना है, बाबा! अगर कहीं चांस नहीं मिलेगा तो कनाडा तो है ही। अशरण के लिए शरण, निरुपायों के लिए उपाय!

और असीमा?

वह तो सोचती ही रहती है। हर पल सोचती रहती है।

पिछले चार सालों से उसे शादी का स्वप्न देकर बिठाए रखा था। उसी स्वप्न के सुख और आनंद की कल्पना को उसने अपने हृदय में संजोए रखा था। अचानक मातृदेवी का आदेश हुआ कि

अपने सींग तोड़कर बछड़ों के झुंड में शामिल जाओ।'

कारण!

कारण और क्या हो सकता है, यही कि दो-चार क्लास और पढ़कर उसमें पैसा कमाने की क्षमता पैदा हो सकेगी। अतः गृहस्थी को उससे कुछ सहारा मिलेगा।

असीमा भी अपनी मां की तरह कुढ़ती रहती है, समझ रही हूं, बाबा! सब समझ रही हूं। चीनी की चाशनी से नीम की तिताई जाती है क्या भला?

बेटी की शादी कर देने से बेटी तो पराई हो जाएगी और साथ ही साथ इतने दिनों का बचा कर रखा हुआ पैसा भी खर्च हो जाएगा। इसलिए अच्छा है कि बेटी घर में ही रहे, कमाकर लाए और घर की बाढ़ बढ़ती करे और तुम लोग वाहवाही देते हुए बोलो—यह हुई न बात! बेटी अपने पैरों पर खड़ी हो गई है!

तुम लोगों की जाल-फांस में तो मैं मरकर भी फंसने की नहीं सोच सकती, कमाना सीख जाऊंगी तो अपना रास्ता तलाश कर लूंगी। आजकल लड़कियों के लिए बहुत सारे हॉस्टल खुल गए हैं।

मन ही मन कुढ़ते रहने और किसी की कही गई बात पर ध्यान न देने से ही तो यह घर नामक जगह 'घर' नाम से ही अपनी पहचान बनाए हुए है!

बेटे-बेटी के आधा ही खाकर उठ जाने के बाद उनके पिता ने आकर उनकी मां को डांटते हुए कहा, "रोज ही तुम्हें देर हो जाती है! क्यों? जबकि वह गरम भात नहीं खा पाते। झोल-भात उन्हें पसंद नहीं है।"

और अपराधिनी मां बेचारी यह सोचकर कि उन सबों ने कुछ खाया नहीं, उनके टिफिन बाक्स में जल्दी-जल्दी खाने को कुछ भरने लगती है।

और बेटे-बेटियां बोलते हैं, "रहने दो, रहने दो, इसकी कोई जरूरत नहीं है। रोज जो देती हो उसे फेंकना ही पड़ता है।"

अतएव घर है, और चल रहा है।

वे चले गए। आरती अपने शिथिल हाथों से अस्त-व्यस्त पड़े घर को सुलझाते हुए सोचने लगी, जब हम छोटे थे तब इतना हृदयहीन परिवार नहीं हुआ करता था।

क्या पता, तब के लोग आज की तरह इतने अधिक शिक्षित और सभ्य नहीं थे, इसलिए ऐसा था।

शायद मनुष्य और अधिक शिक्षित और सभ्य हो जाएगा तो यह भी बंधन नहीं रह जाएगा। तब कहां खड़ा होगा मनुष्य?

और असीमा विरक्त बेजार मन लिए बस में झूलते हुए जाते-जाते सोच रही थी, बचपन से ही सुनती आ रही हूं कि 'मातृ स्नेह' एक स्वर्गीय चीज होती है। लेकिन यह सिर्फ बातों का छलावा है। जब तक मनुष्य शिक्षित और सभ्य नहीं होगा तब तक उसकी उन्नति नहीं हो सकती। प्यार के लिए भी शिक्षा की जरूरत होती है। ❑

अनु. : सूर्यनाथ सिंह

विद्रोही नारी-पात्र

पृष्ठ 9 से आगे

इस कहानी की बहुत प्रशंसा हुई। इस पहली कहानी के माध्यम से ही आशापूर्णा देवी ने बंगला कथा साहित्य में अपने हस्ताक्षर अंकित कर दिए थे। इसके बाद वह निरंतर लिखती रहीं। कहानियों से अधिक उनके उपन्यास चर्चित हुए। हालांकि वह मानती थीं कि 'कहानी मेरा पहला प्रेम है'। आशापूर्णा देवी के संबंध में लोगों के मन में यह धारणा बन गई थी कि यह किसी पुरुष लेखक का छद्म नाम है, क्योंकि इतनी सशक्त रचनाएं कोई पुरुष ही कर सकता है। अटकलें लगाई जातीं कि यह नाम सजनीकांत दास अथवा प्रेमचंद मित्र का होगा।

यह भ्रम चालीस वर्षों तक बना रहा। जब *प्रथम प्रतिश्रुति* उपन्यास पर 1978 में उनको ज्ञानपीठ पुरस्कार देने की घोषणा हुई तब लोगों के मन से यह भ्रम टूटा।

आशापूर्णा देवी मूलतः नारीवादी कथा लेखिका हैं। शहर की मध्यवित्त परिवार की नारी की समस्याएं, उनकी पीड़ा और दबे हुए आक्रोश को जिस बारीकी से उन्होंने चित्रित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। *प्रथम प्रतिश्रुति, सुवर्णलता* और *बकुलकथा* जैसी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने भारतीय कथा साहित्य में अमर नारी-चरित्रों की रचना की है। इन उपन्यासों में बंगला समाज की रूढ़ियों, कुरीतियों और नारी के लिए स्थापित किए गए नैतिक मानदंडों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उनके नारी-पात्र समाज की थोपी हुई मर्यादा, आदर्श और नैतिक मानदंडों की बेड़ी को झटाक से तोड़कर एकदम स्वतंत्र नहीं हो जाते, बल्कि वे नारियां मूक विद्रोहणी हैं। वे भीतर ही भीतर अपने आप से लड़ती रहती हैं। अपनी आशा-आकांक्षाओं, अपने सपनों और जीवन की मधुर कल्पनाओं से विद्रोह करती हैं। इन नारियों के भीतर की छिपी मनोवृत्तियों और मूक आक्रोश को जितना नजदीक से आशापूर्णा देवी ने देखा-सुना है और उसका पर्दाफाश किया है, वह अत्यंत दारुण एवं विस्मित करने वाला है। ये नारियां सिर्फ पुरुष अत्याचार की ही शिकार नहीं हैं, बल्कि महिला अत्याचारों की भी शिकार हैं। घर के भीतर कैद नारियों पर नारियों ने ही सबसे ज्यादा अत्याचार किए हैं। उनकी कहानियों में कहीं घर की आर्थिक स्थिति सुधारने की दृष्टि से अस्पताल से बच्चा चुराने वाली नौकरानी जब जेल से रिहा होकर घर लौटती है तब न तो वह अपने पति द्वारा स्वीकार की जाती है, न पिता द्वारा; कहीं विधवा भाभी समाज के भय से अपने देवर को घर से निकाल देती है; कहीं अपनी बेटी की खुशियों के लिए दामाद की मृत्यु को भी बड़ी सहजता से दबा जाती है; तो कहीं विधवा सास बहू के तानों से तंग आकर अपने बेटे की मृत्यु के समाचार से इसलिए खुश होती है कि बहू भी विधवा हो गई है। इस तरह की अनेक समस्याओं का जिस निर्भीकता से उन्होंने चित्रण किया है, वह विस्मित कर देने वाला है। पढ़ने के बाद पाठक की आंखें खुली की खुली रह जाती हैं।

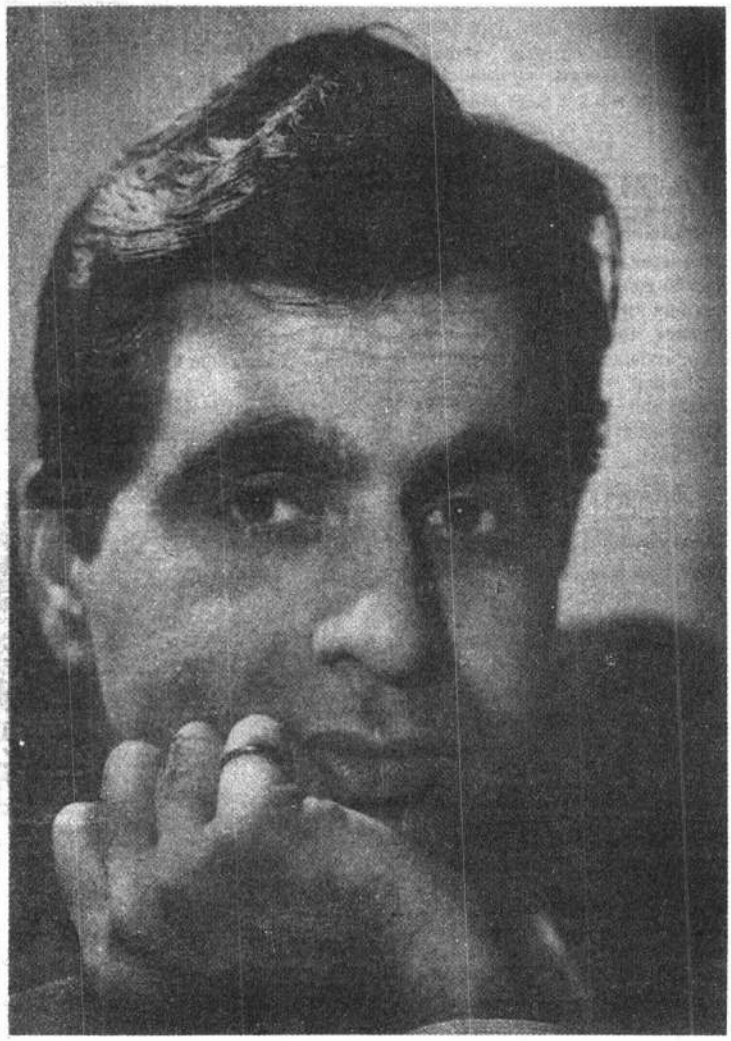
उनकी साहित्य सेवा के लिए उन्हें 1966 में भारत सरकार का 'पद्मश्री', पश्चिम बंगाल सरकार का रवींद्र सम्मान, 1989 में विश्वभारती विश्वविद्यालय का सर्वोच्च सम्मान 'देशिकोत्तम' तथा साहित्य अकादमी की 'अकादमी फैलोशिप' आदि सम्मान प्राप्त हो चुके हैं।

आशापूर्णा देवी के इस विशाल रचना-संसार में उनकी 86 साल की उम्र और 72 साल की रचनाधर्मिता के अनेक पड़ाव, घटनाएं और स्मृतियां और अनुभव पसरे पड़े हैं। इस रचना-संसार पर अनेकानेक विस्तृत चर्चाओं की आवश्यकता है। ❑

अजस्र सृजन की मंथर धारा

विष्णु खरे *दिलीप कुमार को उनकी चिंतनशीलता के कारण मार्लन ब्रैंडो, तोशीरो मीफूने, वान सिदोव, लारेंस ओलिविएर, अलेक गिनेस, रिचर्ड बर्टन, जेम्स डीन, हंफ्री बोगार्ट, जेरार देपार्दूयू जैसे विश्व के महान अभिनेताओं की श्रेणी में मानते हैं।*

उत्कृष्ट अभिनय करने की असामान्य क्षमता के कारण अपने जीवनकाल में ही लगभग सारे संसार में मिथक पुरुष बन गए पाल म्यूनी से एक बार किसी ने पूछा था कि आप हालीवुड या ब्राडवे के अभिनेता समूह से अलग कैसे रह पाए। पाल म्यूनी का संक्षिप्त उत्तर था कि मैं अंतर्मुखी हूं। वैसे किसी अदाकार का यह कहना कि वह अंतर्मुखी है, एक विचित्र विरोधाभास है क्योंकि उसका मौलिक काम किसी अन्य पात्र को अभिव्यक्ति देते हुए स्वयं को प्रदर्शित करना है। अन्य कलाओं में अप्रत्यक्ष रहकर भी अपनी अभिव्यक्ति संभव है, अभिनय में अभिनेता की सशरीर, गतिशील उपस्थिति अनिवार्य है, भले ही वह फिल्म या टेलीविजन के पर्दे पर हो। अभिनय का वैविध्य अनंत है, उसमें अलग-अलग शैलियों में महानता छू लेना संभव है, संसार के करोड़ों दर्शकों की रुचियां भी एक जैसी नहीं हैं, फिर भी जब किसी भी युग के महान अभिनेताओं के नाम गिनाए जाते हैं तो उनमें दिलीप कुमार जैसी अंतर्मुखी प्रतिभाओं का ही प्राधान्य रहता है।



दिलीप कुमार

जब हम किसी को अंतर्मुखी या 'इंट्रोवर्ट' कहते हैं, जिसके लिए भारतीय लोकप्रिय शब्द 'चुप्पा', 'फिलासफर जैसा' या 'रिजर्व' हैं, तो हमारा मतलब दरअसल यह होता है कि वह आदमी 'सोचता' ज्यादा है। वैसे तो हर व्यक्ति हमेशा सोचता रहता है लेकिन 'सामान्य सोच' और 'विशिष्ट सोच' में फर्क है। यह कहना जोखिम भरा होगा कि कुछ लोग जन्मना अपेक्षाकृत चिंतनशील होते हैं लेकिन यह सही है कि समाज में चिंतनशील लोग अलग पहचान लिए जाते हैं, बहुत अधिक सोचना एक रुकावट या रोग भी हो सकता है लेकिन 'सामान्य' से अलग होने की प्रक्रिया में 'सोचना' अनिवार्य है और सोचने की क्षमता जन्मजात हो या न हो, जीवन की हर असामान्य स्थिति में या तो उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है या वह उपजती, उपजना चाहती है। कलाओं में चिंतन लगभग अनिवार्य है, भले ही कभी-कभी 'इंट्यूशन' के रूप में वह मौजूद हो। दिलीप कुमार भारतीय फिल्म अभिनय के 'चिंतन' के तत्व का प्रवेश करवाने वाले अन्यतम अभिनेता हैं। यह अकारण नहीं है कि वह पाल म्यूनी के मुरीद हैं।

उनके प्रारंभिक पारिवारिक जीवन, बचपन, कैशोर्य तथा शुरूआती युवावस्था के बारे में हम बहुत ज्यादा नहीं जानते, सिवा इसके कि वह कई भाई-बहनों में से एक थे, शालीन और गंभीर स्वभाव के थे और एक दिन उन्हें देखकर देविका रानी ने उन्हें *ज्वार भाटा* फिल्म में एक भूमिका दिलवा दी। बेशक, वह अनुभवी, संभ्रांत अभिनेत्री यूसुफ खान नामक उस 22 वर्षीय नौजवान की

चिंतनशील तहजीब से प्रभावित हुई थीं। यदि आप विश्व के महान फिल्म अभिनेता मार्लन ब्रैंडो, तोशीरो मीफूने, वान सिदोव, लारेंस ओलिविएर, अलेक गिनेस, रिचर्ड बर्टन, जेम्स डीन, हंफ्री बोगार्ट, जेरार देपार्दू को देखें तो आप पाएंगे कि ये अभिनेता पर्दे पर सब कुछ करते हुए भी अपने कहीं बहुत भीतर कुछ सोचने लगते हैं। उनका मस्तिष्क हमेशा व्यस्त लगता है, उनके चेहरे ऐसे दिखते हैं जैसे पात्र के अनुरूप मुद्रा बनाए रखने के बावजूद वे कहीं और हैं, कुछ और सोच रहे हैं, अभिनय करते हुए स्वयं को देखते हुए भी कुछ और देख रहे हैं। यह कहना मुश्किल हो जाता है कि वे अभिनय में चिंतन कर रहे हैं या चिंतन में अभिनय।



'मुगले आजम' में एक भावप्रवण मुद्रा में

दिलीप कुमार की उन फिल्मों में जो 'गंभीर' हैं या दुखांत हैं या 'प्रसादांत' हैं, यह तत्व हमेशा उपस्थित है। वह अपनी चुप्पी के भीतर एक चुप्पी, अवसाद के भीतर एक अवसाद और त्रासदी के भीतर एक त्रासदी निर्मित करते हैं। *शहीद, मेला, दीदार, बाबुल, अंदाज* जैसी सामान्य, अक्सर अतिभावुक, कहानियां भी दिलीप कुमार की ऐसी प्रतिभा की उपस्थिति से एक अजीब अर्थवत्ता प्राप्त कर लेती हैं। दर्शकों को ऐसा लगता है कि जो कुछ घटित हुआ है उसके कुछ और कारण और मायने भी हैं जो सिर्फ इस चुप, सोच में डूबे हुए आदमी को मालूम हैं लेकिन जो उन्हें बताएगा नहीं। अपनी तकलीफ अपने संकट के बारे में भी वह कहता जरूर है लेकिन बहुत कुछ अनकहा छोड़ देता है। *देवदास, यहूदी, दिल दिया दर्द लिया, संगदिल, फुटपाथ* आदि को देखने के बाद लगता है कि तबाह और परास्त होने के बावजूद उस बर्बादी और शिकस्त पर कुछ कहना अपनी और मानवता की गरिमा के विरुद्ध है।

देवदास में एक दृश्य है जिसमें देवदास के जमींदार पिता की मृत्यु हो चुकी है और देवदास तथा उसका बड़ा भाई हवेली के बाहर बैठे हुए हैं ताकि मातमपुर्सी के लिए आने वालों को धन्यवाद दे सकें। दोनों भाइयों के बीच दूरी है। एक व्यक्ति चुप बैठे हुए देवदास के पास आता है और सहानुभूति में जोर-जोर से रोने लगता है। देवदास दिलीप कुमार एक क्षण उसकी ओर देखता है और उसे अपने बड़े भाई इफ्तिखार की तरफ जाने का इशारा कर देता है जो पहले से ही तीन-चार लोगों की सांत्वना से परे, छप्पर फाड़ विलाप कर रहा है। दिलीप कुमार के इस थके हुए, वीतराग संकेत में अपना गहरा शोक तो है ही जिसे वह किसी से नहीं बांटना चाहते, चालाकी, पाखंड, स्वार्थ और अतिनाटकीयता के विरुद्ध एक निःशब्द 'स्टैंड' है और यह एक ऐसा दृश्य है जिसके फिल्म *देवदास* के बाहर भी बहुआयामीय निहितार्थ हैं। इसे आप अभिनय कला पर एक संपूर्ण टिप्पणी भी कह सकते हैं।

दरअसल हर बड़े कलाकार की तरह दिलीप कुमार ने भी चिंतन को नैतिकता का रूप दे दिया और नैतिकता से अपने कला चिंतन को परिमार्जित किया। उन्हें बेशक कुछ नैतिक मूल्य अपने परिवार से मिले होंगे और कुछ उन्होंने 22 वर्ष की उम्र तक अपने विवेक से प्राप्त किए होंगे। 1944 का भारतीय समाज अत्यंत जटिल स्थितियों से गुजर रहा था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन 1942 के 'भारत छोड़ो' अभियान के बाद अपने अंतिम चरण में था। 1939 से शुरू हुआ द्वितीय विश्वयुद्ध भी अपने आखिरी वर्षों में प्रवेश कर रहा था, हालांकि तब शायद किसी को उम्मीद न थी कि मई 1945 में जर्मनी और जापान हार जाएंगे। देश में एक ओर राष्ट्रीय आदर्शवाद था, दूसरी ओर लड़ाई की वजह से गरीबी, महंगाई, मुद्रास्फीति और बेकारी महामारियों के रूप में फैली हुई थीं (देश बंगाल के अकाल की पैशाचिक विभीषिका से गुजर ही चुका था) और तीसरी ओर भारतीय समाज में अंधविश्वास, रूढ़ियां, मतांधता तथा वर्जनाएं व्याप्त थीं। निम्नवर्ग तथा निम्नमध्यवर्ग के लिए, इनमें भी विशेषतः युवा वर्ग के लिए, यह सबसे निराशाजनक, घुटन भरा, आत्मावसादपूर्ण, रूमानी बलिदान या आत्महत्या को प्रेरित करने वाला समय था। त्रासदी इसका आत्मपीड़क स्थायीभाव था। यह अकारण नहीं है कि आजादी के आश्वासन के बाद और वाकई आजादी मिल जाने के बाद भी स्वतंत्रता प्राप्ति के आह्लाद से भरी कोई भी साहित्यिक, फिल्मी, संगीत या नृत्य कृति का निर्माण 1942-50 के बीच नहीं हुआ, और उसके बाद तो उसका प्रश्न ही नहीं उठता था।

आजादी के पहले की और उसके लगभग दस बरस बाद तक की हिंदी फिल्मों को समझने के लिए इस सामाजिक-राजनीतिक 'मिल्यू' को जानना शायद कुछ सहायक हो सकता है। इसी ने दिलीप कुमार को उनका नायकत्व दिया और इसी ने उन्हें सबसे महत्वपूर्ण अभिनेता के रूप में स्थापित किया। *ज्वार भाटा* के लिए उन्हें खोजा तत्कालीन प्रबुद्ध, वरिष्ठ अभिनेत्री देविका रानी ने, जिस फिल्म के संवाद लिखे थे भगवती चरण वर्मा ने, जिन्होंने यूसुफ खान को दिलीप कुमार में रूपांतरित किया और फिल्म का निर्देशन किया अमिय चक्रवर्ती ने। बंबई फिल्म उद्योग पर पंजाबी संस्कृति के नाजिल होने में अभी कुछ वर्षों की देर थी और दिलीप कुमार का सौभाग्य था कि वह अभिनय की मराठी शांताराम शैली की ओर नहीं गए या सीधे बंबई की उर्दू-मुस्लिम धारा में नहीं कूद पड़े (बल्कि *जुगनू* और उसके बाद से उसे अपनी तरफ मुड़ने को बाध्य किया और कला तथा संस्कृति की दृष्टि से उसे समृद्ध किया) बल्कि बंगला-हिंदी की पहले से ही अपेक्षाकृत समृद्ध परंपरा में शामिल हुए। उनकी जन्मजात क्षमता और पठानी-इस्लामी तहजीब को बंगला-हिंदी पूर्वग्रह-मुक्त कला-सापेक्ष संस्कृति से सामंजस्य स्थापित करने में कोई देर या झिझक नहीं हुई।

ज्वार भाटा के चार वर्षों के भीतर दिलीप कुमार ने अपनी प्राथमिक छवि स्थापित कर ली और वह थी एक निम्नमध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय उत्तरभारतीय नवयुवक की जो सभ्य, सुसंस्कृत, पढ़ा-लिखा, संवेदनशील, विवेकी, नेक, न्यायप्रिय तथा विचारवान है। उन्हें उचक्के, छिछोरे, बदकार सड़कछाप नीमगुंडे, मुहल्ले या नुक्कड़ के शोहदे के किरदार नहीं दिए जा सकते थे। यदि उन्होंने नैतिक या कानूनी अपराधी या अर्ध-अपराधी की भूमिकाएं की भी हैं तो या तो उनका हृदय परिवर्तन हुआ है या प्रायश्चित में उन्हें अपना जीवन भी गंवाना पड़ा है। दिलीप कुमार भारतीयता और आदर्श भारतीय नवयुवक की छवि पहचान चुके थे, वह पारिवारिक तथा मौलिक मानव मूल्यों को समझ चुके थे। अपनी कला को किन नैतिक परामितियों में रखना है, इसका बोध उन्हें हो चुका था। यदि निर्देशकों ने कल्पनाशीलता और साहस का परिचय दिया होता तो दिलीप कुमार *अंदाज, दीदार* के समय ही *अमर* और *देवदास* की अपनी भूमिकाएं निभा ले गए होते, वैसे किसी भी सूरत में 1955 तक वह उन एंटी-हीरो नायक भूमिकाओं को सफलतापूर्वक कर लेते जो उसके 15 या 20 वर्ष बाद फैशन में आई, क्योंकि *फुटपाथ* में उनका किरदार वैसा ही था। लेकिन दिलीप कुमार ने अभिनय में वही मार्ग अपनाया जो जवाहरलाल नेहरू ने राजनीति में—एक

व्यापक आधुनिक मानवतावादी, उदार, केंद्र से कुछ बाईं तरफ का रुझान रखो, जनमत और परंपरा से ज्यादा खिलवाड़ न करो, उसे चाहो तो कभी-कभी चौंका दो या हल्का-सा सदमा पहुंचा दो, अपना आत्मसम्मान बचाए रखो। लोकप्रियता प्राप्त करो, लेकिन अपनी अस्मिता खोने की कीमत पर नहीं और बाजारू या 'लुंपेन' तत्वों से दूर रहो।

चिंतनशील, नैतिक और कमोबेश नेहरू युग के अभिनेता अशोक कुमार, मोतीलाल और बलराज साहनी भी थे बल्कि दिलीप कुमार से उम्र में दस बरस बड़े किंतु उनसे सात साल बाद फिल्मों में आए बलराज साहनी बौद्धिक रूप से उनसे भारी ही पड़ते थे, भले ही वह दिलीप को हमेशा एक बेहतर अभिनेता मानते रहे, लेकिन इन तीनों में वह लगभग दैवीय, जादुई आकर्षण, वह 'कैरिज़्मा' नहीं था जो दिलीप कुमार ने प्रारंभिक कुछ वर्षों में अर्जित कर लिया था। इसकी वजह यह थी कि दिलीप कुमार अपने व्यक्तित्व और अपनी क्षमताओं को जितना समझते और समझना चाहते थे, अपनी प्रतिभा और उसके इस्तेमाल को लेकर जितने सजग थे, अपने कैरियर और मनोविज्ञान पर जितना ध्यान रखते थे, स्वयं को अधिक लोगों, अधिक मेलजोल, प्रचार और अधिक फिल्मों से दूर रखकर अपने इर्द-गिर्द निज अनुपलब्धता, उत्सुकता और रहस्य का ताना-बाना बुन रहे थे, वैसा उनके पहले और उनके बाद के दो ही अभिनेता कर पाए—राजकुमार और अमिताभ बच्चन। राजकुमार ने अपनी पूंजी को सार्वजनिक रूप से स्टूडियो में तथा प्रचार माध्यमों में अपने बिना वजह उद्दंड और आक्रामक व्यवहार तथा फिल्मों में सिर्फ अतिनाटकीय, पारसी थियेटर की डॉयलागबाजी से गंवा दिया। सिर्फ अमिताभ बच्चन अपना जादुई, रहस्यमय सम्मोहन अब भी बचाए हुए हैं। दिलीप कुमार के समसामयिक दोनों प्रतिद्वंद्वियों—राजकपूर और देवानंद में ग्लैमर तो रहा—देव आनंद में राजकपूर से ज्यादा और अधिक देर तक रहा, लेकिन दोनों अपने लिए कोई 'कैरिज़्मा', कोई शब्दातीत, व्याख्यातीत रहस्यमयता पैदा नहीं कर पाए। राजकपूर ने निर्माता-निर्देशक के रूप में ख्याति अर्जित की। उनकी अभिनय क्षमता में भी शक नहीं किया जा सकता, लेकिन देव आनंद को किसी ने भी एक्टर के रूप में गंभीरता से नहीं लिया।

दिलीप कुमार की एक विलक्षण उपलब्धि यह भी है कि उन्होंने मार्मिक और स्वाभाविक अभिनय करते हुए भी अपनी एक अनूठी शैली निर्मित की और उसे यथोचित बनाए रखा। *देवदास* तक की अपनी दुखांत फिल्मों में वह बहुत धीमे बोलते हैं। कई बार उनके संवाद सुनना-समझना कठिन होता है। कैमरे की तरफ पीठ करके या सिर्फ गर्दन घुमाकर बोलते या अभिनय करते हैं और एक खास ढंग से इंगित करते हैं। बाद में उनकी भूमिकाएं जितनी बहिर्मुखी, प्रगल्भ और नाटकीय होती गईं उसी तरह उनकी आवाज, संवाद अदायगी, चाल-ढाल, भंगिमाएं आदि अधिक 'खुली' और स्पष्ट होती गईं। वह पर्दे पर जो कुछ करते हैं, या नहीं भी करते, वह व्यर्थ नहीं होता। उन्होंने अपने लिए कुछ विशेष दृश्य भी ईजाद किए थे जैसे देवताओं की मूर्ति से क्रोध-चुनौती-करुणा भरा एकालाप, किसी जुर्म को कुबूल करने का संवाद, प्रेम या विवाह के संदर्भ में मां से सलज्ज वार्तालाप या प्रेमिका को सताने के लिए किसी काल्पनिक लड़की (या गाय आदि) के बारे में प्रणय-प्रकरण जैसा जिक्र। इनके पीछे उद्देश्य रहता था—क्रमशः अपने आक्रोश और विद्रोह को अभिव्यक्ति देना और स्वयं को एक संकोची तथा शरारती युवक की तरह प्रस्तुत करना। लेकिन दर्शकों को हमेशा यह स्मरण दिलाते हुए कि वह अपने चहेते दिलीप कुमार को ही देख रहे हैं। वह साथ में जटिल और सहज दोनों तरह के अभिनय भी करते चलते थे। और इन दोनों रणनीतियों को अलग करना संभव तथा वांछनीय नहीं है।

कलाकार दिलीप कुमार के साथ यह अच्छा ही हुआ कि युवावस्था में उन्हें अधिकांश भूमिकाएं गंभीर और दुखांत मिलीं। और उनके अभिनय की गुणवत्ता को स्वीकारते हुए उन्हें 'त्रासदी सम्राट' की अनौपचारिक पदवी दे दी गई। उन्होंने अपने करोड़ों दर्शकों को त्रासदी देखने, उसका कलात्मक



सगीना के एक दृश्य में सायरा बानो के साथ ➤

बदलता हुआ समय उन्होंने देखा न हो, ऐसा नहीं है। वह स्वयं भी बदलती रही हैं उम्र भर। अच्छे रंगों से परहेज नहीं है उन्हें। पर समय-समय पर लगता है कि अब सिर्फ कालिख बची है। क्या करें इस उम्र में उसका?

वह जब तक अपने तख्त पर पहुंचीं तब तक सीना धौंकनी हो चुका था। शरीर भीग रहा था। पसीने और ताजे सीमेंट की गंध नाक में समा रही थी।

बड़े-बड़े कमरे हैं चार। वह अकेली हैं एकदम। यह बंगला नहीं है कल-परसों तक का। जुड़ा हुआ अपार्टमेंट बड़े बेटे का है और उससे आगे दूसरे बच्चों का। वे अब सब जिम्मेदार हैं। खुद भी बड़े-बड़े बच्चों के मां-बाप। कल की बात जरूर है पर कल इतना दूर भी नहीं लगता। एक ठोस आकार था। यह कल्पना नहीं की जा सकती थी कि यहां भी विखंडन होगा। अकेले रोकना मुश्किल था। शायद इसे यह भी कहा जा सकता है कि उनके अपने अकेले हो जाने से हुआ यह सब। कह सकना मुश्किल है कि जिम्मेदार कौन है।

अब ठंडी आहें बची हैं सिर्फ। एक वाक्य अंदर से सुनाई पड़ता है बार-बार कि 'अब इन सबके साथ ही जीना है'। एक मुकम्मल उम्र के बाद तो सभी को सदा के लिए चुप हो जाना है, पर वह इतनी चुप कभी नहीं रहीं। जीते जी चुप भी रहें तो मन बोलता रहता है हरदम। वह भी खूब बोलती थीं अपने समय में। इतनी मुखर कि अच्छे-अच्छों का मुंह बंद हो जाता था। पर अब बोलती हैं तो दकियानूस साबित कर दी जाती हैं। बाहर जाना शरीर ने संभव नहीं रहने दिया है और घर में चुप रहना पड़ता है। बहुत सारी बातें उनकी समझ में नहीं आतीं। बड़े बेटे की जवान लड़की जींस का पैंट पहनती है तो उन्हें नागवार नहीं गुजरता। यह उन्हें नागवारी के लायक लगता भी नहीं। असल में यह उनका विषय है भी नहीं। आधुनिकता से उन्हें गुरेज नहीं है। फिर भी वह दकियानूस क्यों हैं? कई आयामों से विचारने पर भी जवाब नहीं मिलता इसका। वह बाहर जाकर पूछना चाहती हैं कि जो उनके घर हुआ पिछले दिनों वह क्या है?

मिश्रा जी के देहांत के बाद ही यह परिवर्तन हुआ या इसे इसी वक्त होना था, तय नहीं कर पाती हैं वह। लगभग छह-सात महीने पहले की ही तो बात है। जिस जगह पर आजकल अपार्टमेंट खड़े हैं, और जिनके नीचे बारह बड़ी-बड़ी दूकानें हैं, वहां इस अधटूटे बंगले का विशाल लॉन था। इस लॉन पर पता नहीं कितनी विषम जिम्मेदारियों को अंजाम दिया गया था, जब मिश्रा जी सरकार में थे। यदि मिश्रा जी की जीवनी वह आज लिख पाएं तो यह एक ऐतिहासिक जगह हो सकती है। पर अब तो जैसे कुछ भी कर पाना संभव नहीं दिखता। जब कभी भी वह नई-नई बनी इस खिड़की से रोज-ब-रोज थोड़ा-थोड़ा टूटता अपना बंगला—जिसमें वह चालीस से भी अधिक वर्षों रहीं—देखती हैं तो न जाने कैसी पीड़ा उनके अंदर उठती है! वह उसकी परिभाषा नहीं कर पातीं। जो हो रहा है उसे मंजूर करने के अलावा चारा ही क्या है?

अक्सर उनके घुटने टीसते हैं तो अपने बड़े बेटे को गाली देने की इच्छा होती है। बंगले के विध्वंस तक की कार्रवाई वह बर्दाश्त कर गई थीं पर सीढ़ियां अब उनके लिए दुर्गम पहाड़ जैसी हैं। बेटे से अपनी इच्छा के विपरीत मिन्नतें की थीं उन्होंने कि छोटी ही सही, पर नीचे जगह मिल जाए, पर वह नहीं माना। पूछने पर उसने बताया कि 'नीचे दूकानें बनेंगी और उनकी दो-दो लाख पगड़ी मिलेगी। आपको नीचे उतरने की जरूरत ही क्या है। शान से अपने फ्लैट में ऊपर रहें, बाकी कामों के लिए रुक्मिणी तो है ही।'

उसकी बातों की अंतिम लाइन बरसों से रुक्मिणी को लेकर मुहावरा बनी हुई है। रहन-सहन अब बदल गया है नहीं तो रुक्मिणी के बिना काम चलना मुश्किल था। लोगों का चलने लगा है पर उनका अब भी मुश्किल है। चालीस साल से भी ऊपर हुए। बहुत कुछ बदल गया है पर रुक्मिणी नहीं बदली उनके लिए। वह कभी भी अतिक्रमण-सी नहीं लगी। हर सुख और दुख में एक आश्रय ही रही वह सदा। नौकरानी की तरह समझते-समझते न जाने कब वह उससे जुड़ गई। इस उम्र में पता नहीं क्यों यह जुड़ाव कुछ ज्यादा ही सघन है अब।

उस जमाने में सबसे बड़ी बेटी सरिता के लिए रुक्मिणी को रखा गया था। उस वक्त उसके साथ इतनी लंबी और गाढ़ी यात्रा की कल्पना नहीं थी। उन दिनों मिश्रा जी के साथ वह भी व्यस्त रहती थीं। मिश्रा जी उस समय अनथक बढ़ रहे थे। उन्हें मालूम था कि जिंदगी बहुत लंबी नहीं होती और शरीर के सुस्ताने की उम्र पता नहीं कब आ जाती है।

तभी से सबको, सारी संतानों को रुक्मिणी ने ही पाला था। बंगले के पीछे सर्वेंट क्वार्टर में वह रहती थी और अब भी रहती है। उनकी और रुक्मिणी की उम्र में खास अंतर नहीं है पर वह ऐसे चलती है अब भी जैसे उम्र ने उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। वह कभी-कभी समझ नहीं पातीं कि रुक्मिणी को कौन-से भरोसे ने सीधा और चलता-फिरता बनाकर रखा है।

अभी भी वह उसके बारे में ही सोच रही थीं। कुछ ही दिनों में बंगले का पीछे वाला हिस्सा भी टूट जाएगा। अभी तो दस अपार्टमेंट बनने हैं। उस समय सर्वेंट क्वार्टर को भी तोड़ना होगा। वैसे तो अब रुक्मिणी अकेली है। दो बेटे हैं उसके, पर दोनों ही उससे अलग रहने लगे हैं। वह बड़े हो गए हैं और अब उन्हें रुक्मिणी का मिश्रा जी के घर काम करना रास नहीं आता। उन्हें मालूम है कि रुक्मिणी को इस परिस्थिति में अपने साथ ही रखना है। रुक्मिणी को ऐसा ही करना पड़ेगा और उन्हें विश्वास है, वह ऐसा ही करेगी। पर उन्होंने कभी इस संबंध में उससे बात नहीं की है। उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। यह सोचकर और भी कि न जाने वह क्या सोचे। शायद उन्हें स्वार्थी समझे। हालांकि रुक्मिणी का पिछला पूरा जीवन उनके सामने रहता है जिसमें उसने इस घर के लिए ही उसे पूरी तरह गुजारा है। यह सोचते हुए वह अपने निर्णय को कई बार मन ही मन दोहरा चुकी हैं कि मरते-मरते अपने हिस्से का अपार्टमेंट उसे ही दे जाएंगी। इस निर्णय से वह बार-बार खुश होती हैं।

उन्हें मालूम है कि रुक्मिणी का शरीर अभी भले ही चल रहा हो, पर उसका भी ऐसा समय आएगा, जैसा उन पर है। तब तो उसे सहारे की जरूरत होगी ही। और सहारा क्या है आजकल? पूंजी, संपत्ति—ये ऐसी चीजें हैं, जिनके भरोसे प्यार भले ही न मिले, पर इनकी आस की वजह से देखभाल संभव है। ऐसा सोचना खराब जरूर लगता है पर आसपास तो सब पर चढ़ता है न! अपवाद कैसे हो सकती हैं वह!

यही सब मन में चल रहा था कि अचानक सीढ़ियों पर से पदचापों की आवाजें आईं। उनकी नजर गई तो देखा, रुक्मिणी आ रही है। वह मुस्करा उठीं। लगा, यह बात गलत नहीं है कि किसी को याद करो और अगर वह उसी वक्त आ जाए तो समझ लीजिए कि उसकी उम्र बहुत लंबी है। उन्हें लगा, निस्संदेह रुक्मिणी की उम्र लंबी है बहुत-बहुत। उन्होंने देखा, उसके हाथ में गर्म पानी की डोलची थी। यह पानी वह उनके घुटने सेंकने के लिए लाई थी। अब दवाइयां काम नहीं करतीं। डाक्टर ने इसी तरह सेंकने को कहा है।

वह रुक्मिणी को लगातार देख रही थीं तब भी जब उसने उन्हें घुटने उघाड़ने को कहा। यह

विस्थापन

● राजेंद्र दानी

घुटने सूजे हैं। सीढ़ियां बहुत हैं। उम्र बहुत है। लगभग सत्तर की। उन्हें बाकायदा याद है कि चढ़ान तो वे बहुतेरी चढ़ती रही हैं जीवन भर, पर सीढ़ियां नई उम्र की देन हैं। ये सीढ़ियां कल्पनातीत हैं। दोनों पैर जब तक, एक-एक सीढ़ी के लिए मुड़ते हैं; तो लगता है घुटनों पर कोई तेज आरी चलती है। उम्र का लिहाज चीखने नहीं देता, नहीं तो वे चीखकर रो भी पड़तीं।

अभी-अभी जवान पोता छलांगों में कई-कई सीढ़ियां एक साथ फलांगता ऊपर निकल गया। जब तक उसकी 'धम्म-धम्म' ऊपर जाकर थमी, तब तक वह दो सीढ़ियां ही पार कर पाई सिर्फ। ऊपर जाती हुई सीढ़ियों को रुककर देखा उन्होंने। एक व्यंग्यात्मक मुस्कान उनके चेहरे पर उभरी फिर धीरे-धीरे चेहरा उदास होता चला गया। पोते को शायद सीढ़ियों पर फन फैलाए सांप नहीं दिखते होंगे, नहीं तो उसकी रफ्तार इतनी तेज हरगिज नहीं होती। उन्हें यह सब असहज लगता है। यह पोता ही अकेला नहीं है, अब के सारे ही लोगों की रफ्तार इससे कुछ कम या इससे कुछ ज्यादा है—उन्नीस या बीस!

वह इन सब पर टोकती थीं पहले। पर कई तरह के संवाद इसके बाद उनके हिस्से में आते थे। 'दादी सठिया गई हैं' या 'मां, अब तुम्हारी भी उम्र हुई' वगैरह। फिर उसके बाद एक खिलखिलाहट।

अपनी उम्रदराजी की आबरू को बचाते हुए वह भी खिलखिलाहट में शामिल होकर टाल जाती हैं। पर अपने को बीता हुआ मानना त्रासद है और हठधर्मिता निष्कासित कर सकती है। इसीलिए अक्सर उन्हें डरावने सपने आते हैं। सपने में उन्हें एक अट्टालिका दिखती है और वह एक रस्सी से बंधी, उसके किसी कगार से झूलती रहती हैं। नीचे एक डरावना कुत्ता सिर ऊपर उठाकर रोता रहता है। यह अजीब सपना जब आता है तो एक झटके से नींद टूट जाती है, फिर कई-कई दिन असंभव हो जाती है।

सबको इसी तरह देखने की आदत पड़ गई है। फर्क तो है, पर साथ-साथ मजबूरियां भी हैं। मिश्रा जी जब जीवित थे, तब ऐसा नहीं था। कदम साथ-साथ पड़ते-से लगते थे दोनों पीढ़ियों के। अब लेकिन संदेह होता है कि तब के देखने में और अब के देखने में फर्क तो नहीं आ गया है? या सिर्फ भ्रम है और वास्तव में, उनकी ही गति एकदम मंद पड़ गई है? और आगे जाकर सोचें तो यह भी लगता है कि अंतिम समय का करिश्मा है यह सब। बहरहाल, उन्हें लगता है जब तक वह हैं रहना तो है ही।

दिखने वाले दुख उन्होंने कभी झेले भी नहीं। तब भी नहीं जब मिश्रा जी स्वतंत्रता संग्राम में जेल गए कई-कई बार। तब नाक ऊपर रहती थी ऐसे वक्तों पर। उन्हें मालूम था अदृश्य दुखों का मरहम भी नहीं होता कहीं। उसे मन से ही भरना पड़ता है।



रेखांकन : रवि

उपन्यास ऐसे नहीं आते जिन पर कायदे से चर्चा भी की जा सके। हिंदी में नाटक, आत्मकथा, जीवनियों, संस्मरणों, रेखाचित्रों, यात्रा वृत्तांतों, डायरियों का प्रकाशन तो अब लोग भूल ही गए हैं। आलोचना की किताबें भी बहुत कम छपती हैं।

सबसे ज्यादा जोर कविताओं पर है। लिखने-पढ़ने, दोनों के लिहाज से कविता लायक समय ही बच रहा है। और बाजारवाद तथा टी.वी. के इस युग में अकेला मनुष्य अपनी छोटी पर इंटैंस भावनाओं को व्यक्त करने के लिए कविता को ही उपयुक्त पाता है। संयोग से कविता में अब छंद की बंदिश भी नहीं रही। सो कविता लिखने, छपवाने, पढ़वाने, सुनाने वालों की संख्या सबसे ज्यादा है। कहानियों में कम समय वाला पहलू है। पर असल में कहानियों को जीवन दे रहा है हिंदी का कस्बाई और ग्रामीण लेखक वर्ग, जिसके पास अभी वक्त भी है और पुरानी जीवन पद्धति भी। वहां बाजारवाद कायदे से नहीं पहुंचा है। पहुंचा भी है तो बहुत ही हल्का होकर।

लेकिन इस बाजारवाद, इस टी.वी., इस सूचना क्रांति ने हिंदी साहित्य पर मात्र इतना तो असर नहीं डाला है। इसने पूरे हिंदी संसार को दो खेमों में बांट दिया है—अंग्रेजी जानने, बोलने-समझने वालों, सूचना के नए तंत्र तक पहुंच रखने वालों, छपने-छपाने, विकवाने की व्यवस्था कर सकने वालों तथा सिर्फ लिखने-पढ़ने वालों के बीच। और कोई अचरज नहीं है कि आज हिंदी के काफी सारे लेखक लातिन अमरीकी लेखक मार्खेज के साहित्य के 'भक्त' हैं, पर आज तक मार्खेज का एक भी उपन्यास, एक भी कहानी संग्रह अनूदित होकर आम पाठकों या दूसरे वर्ग के लेखक-पाठकों के लिए नहीं आया है। ऐसा अकेले मार्खेज के साथ नहीं है। पिछले काफी वर्षों से अंग्रेजी या विश्व साहित्य में क्या कुछ लिखा-पढ़ा जा रहा है उसकी हर बात एक वर्ग के लेखकों को मालूम है। वे पूरा का पूरा प्लाट मारकर अपनी कहानी, कविता, उपन्यास लिख देते हैं। पर अनुवाद करके इस साहित्य को आम लोगों तक नहीं लाया जा रहा है। अगर अनुवाद हो भी रहे हैं तो कुछेक देसी भाषाओं से जिन्हें सरकारी पुस्तकालयों में खपाना होता है।

गंभीर किताबों के प्रकाशन की यह स्थिति अमरीका और यूरोप के आम ढर्रे से मिलती-जुलती है। यह स्थिति वहां काफी पहले थी। अब तो कविताएं सिर्फ कवियों के बीच पढ़ी जाती हैं और उनका प्रकाशन सौ-दो सौ प्रतियों का होता है। अन्य विधाओं की स्थिति ज्यादा दयनीय है। पर वहां फीस लगाकर कविता सुनाना, व्याख्यान सुनाना भी होता है और इसकी कीमत चुकाने को लोग तैयार हैं। इसके अलावा वहां गंभीर और लोकप्रिय लेखन के मेल वाला पूरा वर्ग है जिनकी किताबों की बिक्री काफी बड़े पैमाने पर होती है। अपने यहां यह वर्ग नहीं है। अगर निर्मल वर्मा जैसे लेखकों ने अपना खास पाठक समूह बनाया है तो यह भी काफी छोटा है।

अगर नाम लेना जरूरी ही हो तो यह कहा जा सकता है कि गंभीर और लोकप्रिय लेखन का मेल करने की क्षमता मनोहरश्याम जोशी में सबसे ज्यादा दिखती है। टी.वी. बाजार के इस युग में अपना ब्रांड चलाने वाले वह हिंदी के शायद एकमात्र लेखक हैं। पर उन्होंने भी साहित्य लेखन से परहेज रखा है। एक से एक अच्छे और लोकप्रिय धारावाहिक के लेखक जोशी जी ने उस बाजार में काम न मिलने पर ही *हरिया हरक्यूलीज* टाइप कुछ लिख दिया तो लिख दिया, वरना वह उसी दुनिया के जीव हो गए हैं।

अगर हिंदी कविता, कहानी, उपन्यास का मौजूदा दौर कुछ समय पहले के अमरीकी और यूरोपीय स्थिति से मेल खाता है तो पत्रकारिता में भी वही दृश्य दिखाई देने लगा है। औरत के जिस्म को नंगा परोसने और खुद औरतों के एक वर्ग द्वारा परोसवाने का खेल अभी हाल का है। फिल्म में सैक्स, गाने में सैक्स, विज्ञापन में सैक्स, हैल्थ के नाम पर सैक्स जैसे विषयों को जानबूझकर उठाया जाता है और अधिक उकसाऊ ढंग से परोसा जाता है। यह बात अंग्रेजी में ज्यादा है, पर हिंदी भी बहुत पीछे नहीं है।

हिंदी में दूसरे किस्म की सनसनी फैलाने का काम ज्यादा हुआ है। बाजार पकड़ने या बचाने के लिए बेमतलब और निराधार बातों को भी सनसनीखेज ढंग से छापने में हिंदी अखबारों का कोई जवाब नहीं है। कुछ ही वर्ष पहले पटना के एक अखबार ने तो गढ़े मृत बच्चों का सिर कटवाकर उसकी तस्वीरें छापकर हंगामा मचा दिया था। बाबरी मस्जिद गिराने के पहले वाले दौर में कितनी झूठी खबरें छपीं! हर दंगे के समय ऐसी खबरों की बाढ़ आ जाती है। अब काशी को लेकर इस तरह की रिपोर्टिंग शुरू हो गई है। इन मामलों में प्रेस काउंसिल, एडिटर्स गिल्ड जैसी संस्थाओं की लाख सिफारिशें, सुझाव और झिड़कियां काम नहीं करतीं। हर बार यही तथ्य सामने आता है कि प्रसार संख्या बढ़ाने के लिए यह सारा खेल चला।

अमरीका-यूरोप में बाजारवाद के पूरे रंगत में आने पर भी पत्र-पत्रिकाओं की मौत नहीं हुई है। वहां यही सैक्स, यही हिंसा, यही सनसनी अखबारों को बचाने के काम आ रही है।

पर वहां एक और काम हुआ। वहां पत्रकारिता में दिनोंदिन निखार भी आया है। वहां विशेषज्ञता का दौर आया है। वहां हर विषय के जानकारों की बाढ़ आई है। वहां हर छोटी बात पर नजर रखने और उसे एक समग्र नजरिए से देखने-परखने वालों की बाढ़ आई है। पश्चिम की पत्रकारिता के बचने की सबसे बड़ी वजह यही है—सैक्स, हिंसा, सनसनी केवल दिखावटी चीजें हैं।

और इसके लिए वहां का प्रबुद्ध पाठक वर्ग भी जिम्मेदार है, वहां साक्षरता की ऊंची दर जिम्मेदार है, वहां की प्रति व्यक्ति ऊंची आमदनी जिम्मेदार है। अपने यहां अखबार और किताबों की कीमत आम आदमी की पहुंच के बाहर जा चुकी है। टी.वी. पर सब कुछ मुफ्त मिलता है, कागज महंगा होने पर किताबें महंगी। अपने यहां न साक्षरता उतनी है न आमदनी। सो अपने यहां भले ही टी.वी. बाजारवाद का हमला अखबारों-किताबों को गायब न कर पाए, पर यह इनके सैक्स, हिंसा, सनसनी, झूठ का पलड़ा भारी करा सकता है। इक्कीसवीं सदी के लेखकों-पत्रकारों के लिए यही सबसे बड़ी चुनौती होगी। ❑

अगले अंक में

चित्रकार मकबूल फिदा हुसेन पर विशेष सामग्री, साथ ही आवरण पर हुसेन का संग्रहणीय चित्र।

आजकल

प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली - 110001

एकदम गरीब आदमी को बाजारवाद का दर्शन अपने से बाहर ही रखता है और एकदम अमीर इसके संचालक होते हैं। इनमें से एक बहुत ही छोटा वर्ग कला, संस्कृति, साहित्य की तरफ आकर्षित होता है। पर एक तो इनकी गिनती बहुत कम होती है और दूसरे ये कला, साहित्य, संस्कृति को भी कीमत से जोड़कर इसकी मूल भावना को खत्म कर देते हैं। समाज का बीच वाला समूह बाजारवाद के जाल में फंसा रहता है और ऐसे उदाहरण आम हैं जब हम अपना मकान, अपना फ्रिज, अपना टी.वी. अपनी कार खरीदने के लिए आज तक की ही नहीं, आगे की कमाई भी बंधक रख देने में नहीं हिचकते।

तो फिर इन सबके बीच इसी टी.वी., इन्हीं उपग्रह और मूवी चैनलों, इसी बाजारवाद के बीच छपे अक्षरों के संसार के लिए गुंजाइश कहां बचती है? इस चौतरफा दबाव को पिछले दशक भर से जिस तरह अनुभव किया जा रहा है उसमें अगले पच्चीस वर्ष की कौन कहे, पांच साल बाद ही शुरू हो रहे इक्कीसवीं सदी के शुरूआत के समय की कल्पना करना भी मुश्किल है। कंप्यूटर, फोन और टी.वी. ने मिल-जुलकर जो एक नया सूचना मनोरंजन तंत्र विकसित किया है, उसने पिछले डेढ़-दो वर्षों में ही भारी बदलाव ला दिया है और इसमें सचमुच पांच साल, दस साल या 25 साल बाद के परिदृश्य की कल्पना करना भी मुश्किल हो गया है।

पर जो बदलाव इस दशक भर में ही दिखे हैं और जो कुछ बाजारवाद के अगुआ अमरीका, जापान, जर्मनी, फ्रांस वगैरह में हो रहा है, उसके आधार पर दस साल बाद के परिदृश्य का एक खाका खींचा जा सकता है। ऐसा करते हुए भी हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा, एक तो हमारे यहां साक्षरता अभी भी बहुत कम है—विकसित देशों की तुलना में। साक्षरता और छपे अक्षरों के संसार के बीच कैसा रिश्ता है, यह बताने की जरूरत नहीं है और दूसरी बात यह है कि बाजारवाद के विकास से जुड़े देशों या समाजों और इसे 'आयात' करने वाले हमारे जैसे देश के नए संस्कार और संस्कृति में फर्क है। एक बार अति विकसित तकनीक की चीजें आयात करने के चलते अपने वैज्ञानिक-तकनीकी विकास को सार्थक बनाए रखना संभव नहीं रहेगा। परिणामस्वरूप आगे भी लगभग हर नई चीज हमें आयात ही करनी पड़ेगी।

आगे क्या कुछ होने वाला है, उसकी कुछ साफ तस्वीरें हमने देख भी ली हैं और कल्पना कर सकते हैं। टी.वी. और वीडियो के प्रभावी होते जाने का असर तो छपे अक्षरों की दुनिया में सभी शुरू में ही महसूस करने लगे थे। पर इसका पहला 'जवाब' दिया प्रीतीश नंदी ने *इलस्ट्रेटेड वीकली* के माध्यम से। हुसेन के सहयोगी और इंडिया टुडे के कला सलाहकार मोइनुद्दीन को 'उधार' लेकर उन्होंने रंगों-डिजाइनों के माध्यम से रंगीन टी.वी. का जवाब दिया और एक से एक ऐसे विषयों पर अच्छे लेख और इंटरव्यू की भरमार कर दी जो दूरदर्शन पर नहीं आ सकते थे। ऐसे विषय में वीडियो वालों की दिलचस्पी भी नहीं हो सकती।

पर न तो *इलस्ट्रेटेड वीकली* व्यावसायिक रूप से सफल हो सकी न प्रीतीश। इस दौर में विज्ञापनों की तंगी हर अखबार/पत्रिका ने महसूस की। अब बिना विज्ञापनों के अखबार की अर्थव्यवस्था नहीं चल सकती। सो हम पाते हैं कि दनादन रंगीन पन्ने जोड़ने और बढ़िया साज-सज्जा पर खूब जोर दिया जाने लगा। डिजाइन भी पत्रकारिता का एक अभिन्न और महत्वपूर्ण अंग बन गया।

लगभग इसी दौर में हम अनेक सारी पत्रिकाओं को दम तोड़ते देखते हैं जिनमें *इलस्ट्रेटेड वीकली* भी है। कभी समाज के हर वर्ग और हर विषय में अलग-अलग पत्रिकाएं निकालने वाली बैनेट कोलमैन कंपनी की अधिकांश पत्रिकाएं मरती गईं या घिसटती रहीं। यह कहा जाने लगा कि टी.वी. का यह दौर पत्रिकाओं के उपयुक्त नहीं पड़ रहा है। अखबार तो फिर भी चल रहे हैं पर पत्रिकाएं ही असल में टी.वी का मुकाबला कर रही हैं और हार कर बंद हो जाती हैं।

इंडिया टुडे की व्यावसायिक सफलता इस तर्क को झुठलाती है। लेकिन यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि जहां अखबार हर क्षेत्र में एक-दूसरे से होड़ लेते हैं वहीं पत्रिकाओं का बाजार अखिल भारतीय है। इसलिए इस अखिल भारतीय बाजार में नंबर एक बन गई पत्रिका *इंडिया टुडे* को व्यावसायिक रूप से फलने-फूलने में खास मुश्किल नहीं होने वाली है। विज्ञापन देने वाले भी पत्रिकाओं के विज्ञापन के स्थायित्व को देखते हुए पत्रिकाओं को नहीं भुला सकते। पर अब वे सिर्फ नंबर एक को देकर मौन हो जाते हैं।

यह स्थिति अखबारों में भी है। पर हर सुबह रात तक की खबरें समेट कर पूरे देश या देश के काफी बड़े हिस्से में वितरित हो पाना अखबारों के वश में नहीं है सो तथाकथित राष्ट्रीय अखबार हों या क्षेत्रीय, हर कहीं इनकी लड़ाई चलती रहती है और अपने क्षेत्र में नंबर एक बन जाने वाले को कोई तकलीफ नहीं है। यह बात बंबई के *टाइम्स आफ इंडिया* पर लागू होती है तो दिल्ली के *हिंदुस्तान टाइम्स* पर, जयपुर की *राजस्थान पत्रिका* पर भी और रांची के *रांची एक्सप्रेस* पर भी। दिल्ली के *नवभारत टाइम्स* ने पिछले कुछ वर्षों में जाने कितने रूप बदले हैं पर नंबर एक होने के चलते इसे न तो विज्ञापनों की तंगी पड़ी है न बिक्री की।

और जब अखबारों-पत्रिकाओं की लड़ाई इतनी तीव्र हो जाए और संपादन ही नहीं लेआउट, विज्ञापन और वितरण के स्तर पर पहुंच जाए, तो यह बाजारवाद की चरम परिणति ही है और अचरज नहीं कि टाइम्स समूह के प्रबंधकों ने अपने हरेक अखबार को 'ब्रांड' में परिणत कर दिया। हम चाहें न चाहें, कहें या नहीं, पर बाजारवाद में हर अखबार/पत्रिका की परिणति यही है।

अगर अभी थोड़े हल्के तौर पर कहें तो यही चीज आज के पत्रकारों पर भी लागू होने लगी है। नाम गिनाने की जरूरत नहीं है, पर व्यवहार में हम देखते हैं कि कुछ पत्रकार ब्रांड में तब्दील हो गए हैं। बाजारवाद की इस आंधी में ब्रांड बनना-बनाना कैसे हुआ, कैसे होता है, यह न भी बताएं तो इतना तो ज्ञात है ही कि इनका 'रेट', इनका बिकना, खबर बन जाता है। अंग्रेजी में ऐसे अनेक लोग अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं पर हिंदी के ऐसे अधिकांश पत्रकार सिर्फ पत्रिकाएं/अखबार बंद कराने की विशेषज्ञता ही हासिल किए हुए हैं।

साहित्य और साहित्यकारों में अभी ऐसे ब्रांड नहीं विकसित हुए हैं। विकसित करने की कोशिश जरूर हो रही है। प्रकाशन, पुरस्कार, सरकारी खरीद के मामले में होने वाली ऐसी कोशिशों का कोई मतलब विचारों से नहीं है। हिंदी के ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों में पहले खेमेबंदी थी, पर वह अक्सर विचारों से जुड़ी थी। अब यह नहीं है। आज सिर्फ भाषा, साहित्यकार के सामाजिक-प्रशासनिक दर्जे और पहुंच के आधार पर यह कोशिश हो रही है। एक कहानी पर, एक लेख पर इतना बड़ा हंगामा प्रायोजित किया जाता है कि उसका लेखक भी शर्मिंदा हो जाता है।

पर टी.वी., वीडियो, उपग्रह चैनल तथा पूरे बाजार का असर साफ दिख रहा है। पहला असर तो साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित होने वाले या लिखे जा रहे साहित्य पर ही दिखता है। पूरे साल में एक-दो से ज्यादा

शब्द और बाजार

इक्कीसवीं सदी में छपे अक्षरों के संसार पर **अरविंद मोहन**

काफी पहले छपे अक्षरों या साहित्य को सिनेमा से चुनौती मिली थी तब सिनेमा ने साहित्य को कितना प्रभावित किया था, साहित्य के पाठकों को किस हद तक अपनी तरफ मोड़ा, इसका कोई खास लेखा-जोखा न तब लिया गया था, न अब तक लिया गया है। हां, काफी सारी साहित्यिक प्रतिभाओं के फिल्म में जाने की चर्चा जरूर हुई थी और होती रहती है। पत्रकारिता से भी लोग गए थे।

फिर आया टेलिविजन, काफी समय तक हाशिए पर रहा लेकिन मनोरंजन और सूचनाओं के मामले में कहीं ज्यादा प्रभावशाली होने की संभावनाओं से भरे होने के चलते सदा हाशिए पर ही नहीं बैठा। इसके बलवान होने में दस साल का वक्त भी नहीं लगा। 1982 के एशियाड के समय से इसने जोर पकड़ा और फिर केबल और उपग्रह चैनलों के माध्यम से दस साल से भी कम समय में यह मनोरंजन, सूचना तथा जानकारी देने का एक प्रमुख माध्यम बन गया। इसके दमदार होने की मार दोतरफा थी—फिल्म उद्योग भी प्रभावित हुआ और साहित्य-पत्रकारिता भी।

फिल्मों ने अपना खोया मैदान वापस पा लिया। कैसे पाया? क्या-क्या करके पाया? यह हमारी चिंता का विषय नहीं है। हमारी चिंता का विषय है इस मामले से पस्त हुए साहित्य और पत्रकारिता की उतने प्रभावशाली ढंग से वापसी न होना। साहित्य के बारे में तो बहुत कुछ दावे से नहीं कहा जा सकता पर पत्रकारिता ने टी.वी. के हमले के प्रति सतर्कता दिखाई है। इस हमले के बीच अपना मैदान बचाने के लिए काफी कुछ नया भी किया है।

लेकिन एक साथ कई नए फिल्म चैनलों के खुलने से अब साहित्य-पत्रकारिता यानी छपे अक्षरों की दुनिया को नए और दोहरी ताकत वाले हमले का सामना करना पड़ रहा है। अभी और किस-किस खास विषय वाले असंख्य चैनल खुलेंगे, इसके बारे में सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है। मनोरंजन और सूचना दोनों ही मामलों में टी.वी. ज्यादा सशक्त माध्यम है। इसकी पहुंच ज्यादा बड़ी है और यह घर के अंदर रात-दिन, जब मन हो, उपलब्ध है।

छापे के अक्षरों के संसार और प्रकाश-ध्वनि की दुनिया की तुलना विस्तार से न भी की जाए तब भी जब दोनों आमने-सामने खड़े हों तो इनकी तुलना से बचा नहीं जा सकता। अपने सारे असर, अपने सारे बल, अपनी पहुंच के बावजूद टी.वी. हमारी अपनी रचनात्मकता को मारता है। संवाद की गुंजाइश एकदम नहीं रहने से आदमी के पास बस इसे एकटक ताकते जाने के अलावा और कोई काम नहीं होता। और आंख-कान जैसी कई ज्ञानेंद्रियों को एक साथ व्यस्त रखने के चलते यह हमारे मस्तिष्क को क्षण भर की फुर्सत नहीं देता। दूसरी ओर साहित्य या छापे के अक्षर पाठक की सारी बौद्धिक क्षमता को जाग्रत करते हैं और पढ़ी गई हर चीज को अपने मस्तिष्क में फिर से रचने-जानने के लिए मजबूर-सा करते हैं। कला के दूसरे रूपों की तरह साहित्य भी सीधा संवाद कायम करता है—पाठक और लेखक के बीच एक बार दिमाग में आने से रह गई चीजों को जानने-सुनने के लिए दोबारा-तिबारा पढ़ने की गुंजाइश रहती है। मुश्किल विषयों को जानने में छापे के अक्षरों का यह युग कई बार टी.वी. की सारी ताकत से ज्यादा प्रभावी साबित होता है।

इसे मात्र संयोग कहें या कुछ और कि जब हमारे यहां टी.वी. प्रभावी हुआ लगभग उन्हीं दिनों साम्यवाद का पतन हुआ और हमारी अर्थव्यवस्था पर बाजारवाद की पकड़ मजबूत होनी शुरू हुई। पूरी दुनिया के स्तर पर साम्यवाद के पतन और एक आर्थिक दर्शन के रूप में बाजारवाद के हावी होने के बीच गहरा रिश्ता है। मार्क्स ने जिस मनुष्य की कल्पना की थी उसे मार्क्सवादी व्यवस्था ने एक अंश में भी पूरा नहीं किया। और अब अनेक चिंतकों का मानना है कि मार्क्स का मनुष्य मूलतः आर्थिक मनुष्य ही था। सो जब मार्क्सवादी सरकारें बनीं तब भी उनके यहां कला, साहित्य का हाल खराब ही हुआ। यह बात सामान्यतः सभी कम्युनिस्ट सरकारों पर लागू होती है, पर यह भी सच्चाई है कि बीती अर्द्धशताब्दी में सबसे अच्छा साहित्य कम्युनिस्ट देशों, खासकर पूर्वी यूरोप के कवियों, के बागी लोगों ने ही रचा।

विकास के लगभग एक ही माडल पर चलते हुए मार्क्सवादी सरकारों की असफलता ने बाजारवाद के हावी होने में ज्यादा बड़ा योगदान किया या पश्चिम के पूंजीवाद ने—यह विवाद का विषय हो सकता है। पर आज जो बाजारवाद हावी है उसमें दिखावे-प्रचार की भौंडी प्रवृत्ति तो काफी महत्वपूर्ण चीज है, पर इसका कलात्मकता या रचनात्मकता के विकास से कोई लेना-देना नहीं है। यह रचना को भी एक बौद्धिक संपदा मानने के मूल दर्शन से काम करता है और उसे भी भुना लेने की कोई कसर बाकी नहीं रहने देता। यह सारी चीजों को उपभोग के नजरिए से ही देखता है, उसी में एक झूठे आनंद की अनुभूति कराता है। उपभोग के सामान की असीमित भूख को यह पूरा दर्शन ही बढ़ाता जाता है और उसमें शामिल आदमी कभी भी इससे निकलकर कुछ और सोचने की स्थिति में नहीं रहता।

आनंद उठाने और उसमें स्वयं अपने जटिल अभिनय को उसकी कठोर सर्जनात्मक तथा नैतिक शर्तों के साथ सराहने के कठिन अनुशासन में प्रशिक्षित किया। उन्होंने भारतीय फिल्म अभिनय समीक्षा के सामने नित नई चुनौतियां रखीं जिन्हें पिछली तीन पीढ़ियों से समीक्षकों ने स्वीकारा है। यदि एक लोकप्रिय जनमत संग्रह में उन्हें रिकार्ड आठ बार सर्वश्रेष्ठ अभिनेता माना गया है या उन्हें 'दादा साहब फालके पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है तो इसमें उनके अगणित प्रशंसकों और सैकड़ों फिल्म आलोचकों का बहुविध योगदान भी है।



फिल्म 'कोहिनूर' में कुमकुम के साथ

इधर कुछ हास्य अभिनेता यह शिकायत करते पाए गए हैं कि अब हास्य नायक और हास्य खलनायक का जमाना आ गया है इसलिए महज हास्य अभिनेताओं का महत्व कम हुआ है। अव्वल तो यह तर्क इसलिए भी पोच है कि भगवान, किशोर कुमार, महमूद और जॉनी वॉकर जैसे हास्य अभिनेता अपनी प्रतिभा के बल पर नायक भी बन सके थे। दूसरे यह कि राजकपूर जैसा प्रतिभावान, गंभीर अभिनेता एक बिगड़े दिल शहजादे की तरह जब-जब इरादे करता था हास्य-सिंहासन पर जा बैठता था। के.एल. सहगल, अशोक कुमार, मोतीलाल, बलराज साहनी, देव आनंद, शम्मी कपूर आदि ने एक या अधिक फिल्मों में हास्य-नायक भूमिकाएं की हैं। और इस मामले में भी दिलीप कुमार का एक रिकार्ड ही माना जाएगा क्योंकि *जुगनू, बाबुल, दाग, पैगाम, आजाद, नया दौर, कोहिनूर, लीडर, राम और श्याम, गंगा जमुना, सगीना* और *गोपी* में या तो उनके महत्वपूर्ण हास्य दृश्य हैं या समूची फिल्म ही उन पर केंद्रित कामेडी है। वेश बदलने या दुहरी-तिहरी भूमिकाएं निभाने में भी उन्होंने महारत हासिल की है। *आजाद* में खानसाहब, *कोहिनूर* में कोहिनूर बाबा तथा *राम और श्याम* में श्याम के रूप में वह बेजोड़ हैं। ये हास्य भूमिकाएं एक ओर तो त्रासदी से अवचेतन को मुक्त कराने का मनोवैज्ञानिक आत्म-उपचार हैं तो दूसरी ओर अपनी कला की दूसरी संभावनाएं खोजने-दिखाने का आत्मसजग अभियान। राजकपूर सिर्फ रूमानी दावे करते रहे, दिलीप कुमार ने सफलतापूर्वक यूनानी त्रासदी और कामदी के मुखांश पहनकर दिखा दिए। यों तो आज भी जब कोई निर्माता या निर्देशक दिलीप कुमार को अपनी फिल्म में लेता है तो वह मानकर चलता है कि यदि पूरी फिल्म नहीं तो उसके महत्वपूर्ण हिस्से दिलीप कुमार के अधोपित अधिकार क्षेत्र में चले गए हैं क्योंकि वैसे भी वह फिल्म मुख्यतः उन्हीं की भूमिका को केंद्र में रखकर लिखी गई होती है लेकिन 1950-65 के बीच वह अभिनय के ही नहीं, फिल्म उद्योग के सम्राट थे और उनकी भौंहों की हरकत और पेशानी पर पड़े बलों से निर्माता-निर्देशकों की तकदीरें बनती-बिगड़ती थीं। दर्शक न सिर्फ उनकी अदाकारी के कायल थे बल्कि दक्षिण एशिया के लाखों परिवारों को यकीन था कि उनकी फिल्म फूहड़ और घटिया नहीं होगी और न उसमें उनकी भूमिका। *लीडर* एस. मुखर्जी के मूर्खतापूर्ण प्रचार अभियान के कारण असफल हुई वर्ना दिलीप कुमार की 1955-65 के बीच की असफल फिल्में भी पहले हफ्ते अच्छा व्यापार कर लेती थीं। इसलिए कुछ लोग कहते हैं कि दिलीप कुमार यदि चाहते तो बेहतर, कलात्मक फिल्में बनवा सकते थे और उनमें और भी जटिल तथा सार्थक भूमिकाएं ले सकते थे। लेकिन उन्होंने किसी भी फिल्म-क्रांति का मसीहा बनने से इंकार किया। फिल्म को वह स्वस्थ-सोद्देश्य मनोरंजन का साधन मानते हैं लेकिन यह भी जानते हैं कि फिल्म का अर्थशास्त्र क्या है और किसी फिल्म के टिकट खिड़की पर असफल होने का फिल्म उद्योग के, विशेषतः निचले लोगों के लिए क्या मतलब होता है। चूंकि वह स्वयं बहुत कम फिल्मों में, लेकिन पूरी प्रतिबद्धता से काम करते हैं इसलिए आज से तीस वर्ष पहले से लाखों रुपयों का पारिश्रमिक लेते हैं और जानते हैं कि यदि कला की जिद पर वह अपनी फिल्म बर्बाद करा बैठे तो उनका और निर्माता का हश्र क्या होगा। लेकिन यह भी सच है कि उन्होंने विमल राय या हृषिकेश मुखर्जी से अपना लाखों का मेहनताना नहीं मांगा ताकि उनकी अच्छी फिल्मों को सहारा दे सकें। नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी और शबाना आजमी जैसी कला फिल्म प्रतिभाओं का जो मोहभंग हुआ है उससे तो दिलीप कुमार का मध्यम मार्ग ही पुष्ट होता लगता है।

हर बड़ा कलाकार विवादास्पद होने के लिए अभिशप्त है। दरअसल वे भी उसकी कला, 'कैरिज़्मा' और दंतकथा का अंग होते हैं। और दिलीप कुमार भी इससे मुक्त नहीं हैं। अविवाहित दौर में अपनी नायिकाओं के साथ उनके प्रेम-प्रसंगों, सायरा बानो के साथ विवाह तथा विवाह के कई बरस बाद अस्मा नामक महिला से दूसरे विवाह की पेशकश को यदि व्यक्तिगत मामले न भी माना जाए फिर भी उनमें चरित्रहीनता या अश्लीलता नहीं है। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण नासमझी जरूर है जिसकी उम्मीद दिलीप कुमार जैसे शाइस्ता, धीरोदात्त व्यक्ति से नहीं की जाती। लेकिन यह उनकी आंतरिक शक्ति का ही परिचायक है कि उनके दामन पर कोई स्थायी दाग नहीं लगा। उनके मुस्लिम होने का सहारा लेकर उन पर कुछ प्रतिक्रियावादियों और सांप्रदायिक तत्वों ने जो आरोप लगाए हैं वे इतने निराधार, निंदनीय और घृणित हैं कि उन पर बात करना भी ऐसे इल्जामों और उन्हें लगाने वालों को इज्जत बख्शने के बराबर होगा। और तो और 'दादा साहब फालके सम्मान' को लेकर विवाद खड़ा कर दिया गया। उसे शिवाजी गणेशन को मिलना था, दिलीप कुमार को कैसे दे दिया गया? जबकि सच्चाई यह है कि जिस वर्ष से यह सम्मान स्थापित हुआ है तभी से दिलीप कुमार इसके हकदार हैं। यह बात और है कि यह उन्हें इतनी देर से दिया गया कि गालिब का मिसरा *हक तो ये है कि हक अदा न हुआ* बार-बार याद आता है।

क्रांति में एक ऐसे बुजुर्ग की भूमिका स्वीकार करके, जिसका महत्व यदि नायक से अधिक नहीं तो उससे कम भी नहीं है, दिलीप कुमार ने अपने अभिनय के दूसरे दौर की सफल शुरूआत की। उनके लिए निर्माता-निर्देशक-लेखक को एक अलग तरह का किरदार गढ़ना पड़ा है—युवा नायक/नायकों के समांतर एक केंद्रीय नायकतुल्य 'वरिष्ठ' का जो फिल्म का अतिरिक्त या एकमात्र आकर्षण है और फिल्म की सफलता की जिम्मेदारी में युवा प्रेमी युगलों का हिस्सेदार है। उनकी पीढ़ी के सिर्फ राजकुमार इस तरह की दूसरी पारी खेल रहे हैं। दिलीप कुमार अब भी फूंक-फूंककर भूमिकाएं और फिल्में स्वीकार रहे हैं। उन्हें कोई जल्दी, हड़बड़ी या भयजनित चिंता नहीं है। वैसे कई बार उनके धीरज से दूसरे लोग संकट में फंस जाते हैं, जैसे उनके द्वारा निर्देशित की जा रही बहुप्रतीक्षित, महत्वाकांक्षी फिल्म *कलिंगा* के निर्माता। फिर भी दिलीप कुमार की सृजन यात्रा न तो समाप्त हो रही है और न गतिहीन। उनकी निर्माणाधीन और भविष्य में बनने वाली फिल्मों का करोड़ों दर्शक उत्सुकता से इंतजार करेंगे, जिनमें से लाखों किशोर और कम उम्र के हैं और जो दिलीप कुमार का अभिनय देखकर कह उठते हैं कि कभी-कभी ये अंकल अमिताभ बच्चन जैसी एक्टिंग करते हैं और अधेड़ सहदर्शक दूसरे अधेड़ों की ओर देख उस प्रतिभा पर मुस्कराते रह जाते हैं जो अभिनय की अनन्य पाठ्य-पुस्तक और जीवंत महान परंपरा बन चुकी है। ❑

कहते-कहते वह कुछ विस्मित भी दिखीं, पर वह देख न पाईं। जब उसने एक मोटे कपड़े को गर्म पानी से भिगोकर सेंकना शुरू किया, तब उन्हें लगा कि वह अपने दिल की बात कहें, पर न जाने क्यों भरसक प्रयत्न के बाद भी कह न सकीं। फिर हड़बड़ाकर कहा, "रुक्मिणी, तुम्हारे घुटने भी अब दुखते होंगे?"

रुक्मिणी के चेहरे पर एक मुस्कुराहट उठी और तुरंत विलुप्त हो गई। उसने शायद दिलासा में कहा, "दुखते हैं माताजी, पर आपके ज्यादा दुखते होंगे।"

हर बात में रुक्मिणी ऐसे ही बोलती है। यह उसका अंतर्मन है—एकदम ईमानदार, वह जानती हैं। पर उन्हें इस बार यह जवाब सुनकर एक अलग किस्म की राहत महसूस हुई और उन्होंने आंखें मूंद लीं। वह न जाने कब तक सेंकती रही। उनकी आंखें लग गईं। जब खुलीं वह जा चुकी थी। खिड़की से बंगले के शनैः शनैः टूटने की आवाजें आ रही थीं। उन्हें छटपटाहट होने लगी। यह लगातार बढ़ती जाती अगर फिर से रुक्मिणी कमरे में न आ जाती। घुटनों में उस वक्त कुछ ज्यादा ही टीस हो रही थी। रुक्मिणी ने कमरे को बुहारना शुरू कर दिया था। उन्हें न जाने क्या सूझा, अचानक उसे संबोधित किया, "क्यों रे, रुक्मिणी, क्या सच में आजकल शहर में दूकानें बहुत बढ़ गई हैं और एक-एक दूकान के इतने पैसे मिल जाते हैं, जितना वह बता रहा था?"

चलती हुई बुहारी एक झटके से रुक गई। रुक्मिणी की समझ में नहीं आया कि माता जी ने अचानक यह प्रश्न उसी से किया है। लेकिन कमरे में और कोई नहीं था तो जाहिर है कि उसी से किया होगा। यह समझते उसे देर नहीं लगी, "हां माताजी, आजकल तो दूकानों की भरमार है। अब असल में बिकने वाली चीजें बहुत बढ़ गई हैं न, पहले जैसा नहीं है, आपके समय जैसा।"

यह जवाब रुक्मिणी ने अपनी समझ से दिया, जिसमें हल्की-सी पीड़ा भी निहित थी। पर न जाने क्यों उसके जवाब का आखिरी हिस्सा उन्हें अच्छा नहीं लगा। लगा, वह चिढ़ा रही है उन्हें जानबूझकर। वह नाराज हो गईं, "मैं देख रही हूं, तुम्हारी भी जुबान दूसरों से मिलने लगी है आजकल!"

उनके भाव को देखकर रुक्मिणी को समझते देर न लगी कि उसके कहने का तरीका गलत था। वह पशोपेश में कई क्षण सकपकाई रही फिर हिम्मत बटोरकर कहा "मेरे कहने का गलत अर्थ न लगाएं। सही बात तो यह है कि अब के लोगों की आदतें खराब हो गई हैं और संतोष की सीमा नहीं रही अब।"

रुक्मिणी का यह जवाब शायद उन्हें संतोषजनक लगा। मुंह से एक ठंडी आह निकली फिर उनकी आवाज कहीं दूर से आती लगी, "हां, तुम ठीक ही कहती हो।"

वह कहीं खो गई थीं, संभवतः अपने अतीत में। बुहारी की आवाज जब बंद हुई तो वह अपने-आप में वापिस लौटीं। देखा, रुक्मिणी जा चुकी है। दिन एकदम समाप्त होने को था। उन्हें लगा, जाने क्यों रुक्मिणी ने चाय नहीं दी अब तक। वह लगातार जमुहाइयां ले रहीं थीं।

बरसों से घड़ी की तरफ देखना उन्होंने बंद कर दिया है। उनके अपने शरीर की समय-समय पर चलने वाली गतिविधियां उन्हें समय का आभास देती चलती हैं। जैसे शाम की जमुहाइयां और चाय का वक्त, परस्पर ऐसा संबंध है कि अपने-आप समय का पता चल जाता है। रुक्मिणी को वह उसकी भूल के लिए आवाज देने ही वाली थीं कि वह कमरे में फिर प्रकट हो गई। वह उससे कुछ बोलना ही चाहती थीं कि वह किचन की तरफ चली गई और कुछ ही मिनटों में चाय के प्यालों सहित वापिस लौटी।

उन्होंने महसूस किया कि वह रुक्मिणी के चेहरे पर कुछ ढूंढ रही हैं और कुछ-कुछ डरी हुई हैं। पर रुक्मिणी का चेहरा बिल्कुल सपाट था, विकार-विहीन। पता करना कठिन था कि वह उस वक्त खुश है या दुखी। चाय का एक प्याला उनके हाथ में थमाते हुए वह भी उनके करीब ही बैठ गई।

गर्म चाय के कुछ घूंट हलक के नीचे उतरे तो भीतर न जाने कैसी खलबली होने लगी! ऐसा लगने लगा मानो अंदर कुछ अटक-अटक जा रहा है जो प्रतिरोध के साथ बाहर निकलना चाहता है। वह खुद भी समझ न पाईं कि उन्होंने कैसे बिना किसी भूमिका के रुक्मिणी से कहना शुरू किया, "रुक्मिणी, इस अपार्टमेंट में अकेले रहते हुए मेरा दिल बहुत घबराता है। शायद कुछ ही दिनों में तुम्हारी वह जगह भी टूटेगी। तुम किसी तरह की चिंता नहीं करना, तुम्हें कहीं भी नहीं जाना है। चाहो तो आज ही सारा सामान यहां ले आओ, हमेशा के लिए। इतना समय गुजरा है तो कुछ बरस और कट ही जाएंगे।"

यह सब कहते-कहते एक विवशता ने उनके चेहरे को ढक लिया था। सुनकर रुक्मिणी ने एक झटके के साथ उनकी ओर देखा। सपाट चेहरे के पीछे विस्मय झांकता-सा लगा। पर वह इसे देख न पाई और जवाब की आशा में रुक्मिणी की ओर देखती रहीं।

कुछ पल उन्हें देखते रहने के बाद रुक्मिणी ने नजरें झुका लीं। नजरें फेर लेने के पीछे उसकी साहसहीनता साफ दिखती थी। और कई क्षण शांति ही रही। इस बीच रुक्मिणी के चेहरे पर भी एक ऐसी बेबसी दिख रही थी, जिसे वह भरसक छुपाने की कोशिश कर रही थी। फिर उसने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया, "इतनी भी जल्दी क्या है माताजी, अभी तो कुछ दिन और लगेंगे।" इतना कहते-कहते वह उठ गई। प्यालों को उठाकर उसने किचन में रखा और तेजी से सीढ़ियां उतरती चली गई।

उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उनके कमजोर दिल की धड़कनें अकस्मात तेज हो गईं। वह प्रत्यक्ष दिखने वाले अर्थ को समझने का प्रयास करने लगीं। उन्हें रुक्मिणी से ऐसे व्यवहार की कतई आशा नहीं थी। उसके स्वाभिमान की जरूर वह चिंता कर रही थीं। उन्हें लगा, यह भ्रम नहीं हो सकता, रुक्मिणी के जवाब का कुछ और ही अर्थ है। क्या है वह अर्थ?

लगभग तीन-चार दिन यह प्रश्न उन्हें निरंतर परेशान करता रहा। न जाने कितनी सुखद स्मृतियों के गुच्छों ने उन्हें अभिभूत किया और अर्थ की तलाश में झिंझोड़ा। मजबूर किया सकारात्मक सोच के लिए। पर वर्तमान अंततः सब पर काबिज होता रहा। यह समय दुखद है, वह यह समझ चुकी थीं। वह बता नहीं सकतीं किसी को कि वह किस कदर बेचैन रहीं। बात आगे और करना, या कुछ भी इस हालत में पूछना मुश्किल था क्योंकि प्रत्यक्षतः रुक्मिणी नकारात्मक नहीं दिखी थी। पर सीधा-सादा जवाब भी तो नहीं था उसका।

बिल्कुल अकेली थीं वह यह सब सोचते-विचारते हुए। इस स्थिति के बन जाने की वजह से वह अपनी स्थिति पर लगातार सोच रही थीं। वह बार-बार पूछतीं अपने आप से कि कौन-सी चीज छूट रही है उनके जीवन में। सुरक्षित घर है, फिर भी वह खुद को इतना असुरक्षित क्यों महसूस करती हैं? बच्चों की स्थितियां अच्छी हैं, उनका जीवन बहुत अच्छा है। उन्हें स्वयं को किसी की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है। वे लोग कभी उनके अपार्टमेंट में भले ही न झांकें पर हैं तो सभी आसपास, इतने करीब। वह समझ नहीं पातीं कि क्या है वह जो उन्हें रुक्मिणी के जवाब के संदर्भ में इतना उद्विग्न किए हुए है? क्या वह जाने वाली है? अगर चली भी जाए तो क्या होना है? कोई दूसरा नौकर भी रखा जा सकता है अपनी देखभाल के लिए। पर क्या आज और बहुत पीछे

छूटे कल में कोई फर्क है या नहीं? कोई भी रुक्मिणी हो सकता है? क्यों उसके प्रति उनका मोह उन्हें जकड़े हुए है? अगर नहीं तो वह क्यों बेचैन हैं?

सारे प्रश्नों के उत्तर गड्डमड्ड हो गए। क्षीण मस्तिष्क ऊर्जाविहीन था। इसके आगे सिर्फ घबराहट थी और बेचैनी। दिन गुजर रहे थे और उनकी सघनता बेहिचक बढ़ रही थी। पर उनके मन की सबसे अंदरूनी गहरी पर्त में वह आशा थी जिसे वह स्वयं आज तक मार नहीं सकी थीं।

शायद वह किसी दिन की ताजी शुरुआत थी जब वह तख्त पर बैठी माला फेर रही थीं और मजदूरों का काम पीछे शुरू हो गया था। कुदाली, फावड़ों, और तसलों की मिली-जुली आवाजें कमरे में प्रवेश कर रही थीं। सब कुछ आशंकित रहने के बावजूद उन्होंने खिड़की से झांककर नहीं देखा था।

वह लगभग आधा घंटा इसी तरह चुपचाप बैठी रही होंगी जब सीढ़ियों पर उनके बेटे के कदमों की आहट सुनाई पड़ी। फिर दूसरे ही पल वह कमरे में आकर ठीक उनके सामने खड़ा हो गया। जब उनकी नजरें उससे मिलीं तब बिना देर किए उसने कहा, "देखा आपके मुंह लगाने का नतीजा?.... हद हो गई। शायद यह बात सपने में भी नहीं सोची जा सकती, जैसा बाई (रुक्मिणी) ने किया है।"

तिलमिलाए हुए बेटे की बातें वह समझ न सकीं, पर किसी अनिष्ट की छाया उन्होंने उसके चेहरे पर देख ली। कमजोर दिल की धड़कनें फिर बढ़ गईं। डरते हुए उन्होंने पूछा, "आखिर हुआ क्या?"

उनके इस सवाल का जवाब बेटे ने तुरंत नहीं दिया। शायद जो वह बताना चाह रहा था, उससे उन्हें चोट लग सकती है, इसका आभास उसे था। उन्हें देखते हुए वह खड़ा रहा फिर कुछ सोचकर दबी जबान में कहा, "आप खुद ही चलकर उससे पूछ लीजिए?"

मां की प्रतिक्रिया देखने वह रुका नहीं। तेजी से सीढ़ियां उतरता चला गया।

कुछ ही क्षणों बाद वह धीरे-धीरे सीढ़ियां उतर रहीं थीं। दिल की धड़कनें पूर्ववत तेज और शरीर में एक अजनबी सिहरन उठ रही थी। बेटा ऐसी रहस्यमय बात कह गया था कि बुरे-बुरे ख्याल आ रहे थे।

जब वह नीचे पहुंचीं तो तीन लोग खड़े थे। उनका बेटा, रुक्मिणी और अपार्टमेंट बनाने वाला ठेकेदार। वे तीनों बिल्कुल शांत थे—शायद उन्हीं के इंतजार में। पास पहुंचते ही सूखे गले से उन्होंने पूछा, "क्या बात है?"

उन्होंने सभी को एक साथ संबोधित किया था।

थोड़ी देर एक असहज शांति रही, फिर ठेकेदार ने जवाब दिया, "मांजी, बात ऐसी है कि आपकी ये बाई सर्वेंट क्वार्टर खाली करने को तैयार नहीं, मुझे आज से वहां काम लगाना है। हमने कारण पूछा तो यह कहती है कि....." कहते-कहते ठेकेदार ठिठक गया।

"ये क्या चाहती है?" उनकी नजरें रुक्मिणी की ओर घूमीं, फिर सीधे उसी को संबोधित करते हुए पूछा, "क्या हो गया रुक्मिणी, मैंने तो तुम्हें कहा था उसी रोज कि अपना समान मेरे अपार्टमेंट में ले आओ, हमेशा के लिए! फिर क्या हो गया?"

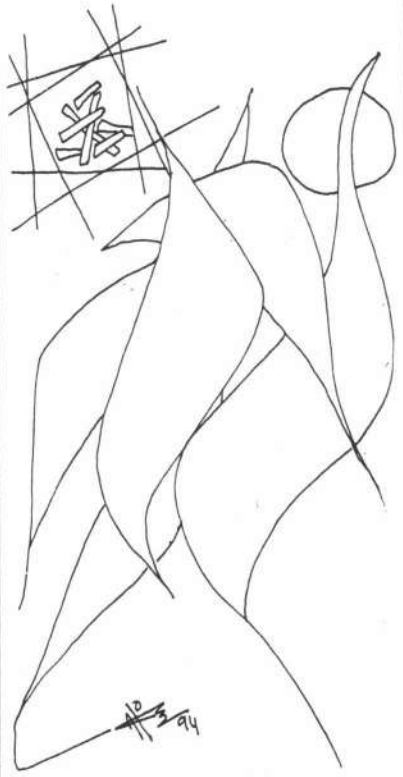
सुनकर रुक्मिणी ने कुछ नहीं कहा। सिर्फ सिर नीचे झुकाए खड़ी रही। जब काफी देर तक वह नहीं बोली तो उन्होंने खीझते हुए चिढ़ सहित फिर पूछा, "तुम चाहती क्या हो? साफ-साफ कहो न!"

उसने फिर भी कुछ नहीं कहा और पूर्ववत खड़ी रही। वह परेशान, चिंतित और बदहवास तो थीं ही, रुक्मिणी का चुप रहना उन्हें बुरी तरह उत्तेजित कर गया। अबकी बार चीखते हुए उन्होंने कहा, "रुक्मिणी, तुम्हें सुनाई नहीं पड़ता, मैं इतनी देर से कुछ पूछ रही हूं, बताओ न क्या चाहती हो तुम?"

उनकी विस्फोटक हो गई हालत को रुक्मिणी समझ गई। सिर उसने फिर भी नहीं उठाया और बेहद धीरे-धीरे कहा, "मां जी, मैं चाहती थी कि मेरा छोटा बेटा.....मेरा मतलब है वह न्यू मार्केट में एक दूकान लेना चाहता है और....और उसकी पगड़ी के लिए पचास हजार रुपयों की जरूरत है। अगर मुझे इतने पैसे मिल.....।" आगे वह बोल न सकी और अपनी साड़ी के पल्लू को मुंह में दबाकर फफकने लगी। उसकी आंखों में आंसू थे। वह तुरंत पलटी और तेज कदमों से अपने क्वार्टर की तरफ चलने लगी।

वह अवाक् रह गईं। लगा, सीने में कहीं टीस हो रही है और कुछ भी सूझ नहीं रहा है। आंखों के आगे एक पल को अंधेरा छा गया। जब अंधेरा छंटा तो अतीत के चालीस वर्ष उनके मन में तेजी से गुजरने लगे। रुक्मिणी अभी भी जाती हुई दिख रही थी और उसकी चाल बेहद मंद पड़ गई थी। मजदूरों का काम चल रहा था। अचानक धूल का एक रेला आया और तभी रुक्मिणी अदृश्य हो गई। उन्हें लगा, बगल में कोई कुत्ता सिर उठाकर रो रहा है और वह किसी गहरी खाई में गिरती चली जा रही हैं। ❑

एक ग़ज़ल : चांद शेरी



जाहिर अपना खुला-खुला रखना।
और बातिन को आइना रखना।

खार चूमेंगे फिर कदम बढ़कर
तुम उन्हें आबला जदा रखना।

ख्वाब महलों के देखने वालो
रेत पर भी असास क्या रखना।

लाख वादे-खिजां चले लेकिन
चश्मे-तर-जख्मे-दिल हरा रखना।

खे रहे हैं जो नाव कागज की
उनको महफूज या खुदा रखना।

गुल को भाता है किस कदर खुद को
तितलियों से घिरा हुआ रखना।

दूर रहना जुनून से 'शेरी'
आदमीयत से वास्ता रखना।



नौटंकी और जनरुचि

नारायण भक्त

वस्तुतः नौटंकी लोकनाट्य है और इसका उद्देश्य आडंबरहीन लोकरंजन रहा है। लोकरंजन के क्रम में इससे किसी प्रकार की उत्प्रेरणा, सदुपदेश की प्राप्ति इसका अंतर्निहित तत्व है। यह उतना ही प्राचीन है, जितना लोककथा, लोकगाथा कहने-सुनने की परंपरा प्राचीन है। इसके इतिहास को किसी कालखंड में विभाजित करना संभव नहीं है।

नाट्यशास्त्र के पुरोधा आचार्य भरत ने इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है : *सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्म प्रवृत्तिभिः नानावस्थांतरोपेतं नाट्यकर्म संविधीयते*। अर्थात नाट्य सामान्य जीवन की शाश्वत प्रवृत्ति को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम संवेदनशील साधन है। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, कला, कार्य या क्रिया नहीं है, जो लोकनाट्य में उपलब्ध नहीं हो।

नौटंकी क्या है, इस संबंध में मतभेद है। आचार्य भरत मुनि के *नाट्यशास्त्र* में 'सट्टक' को नाटक का एक भेद माना गया है, जिसके आधार पर जयशंकर प्रसाद और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे 'सट्टक' के तर्ज पर ही नौटंकी का रूप माना। प्रसाद जी ने नौटंकी को नाटकी का अपभ्रंश रूप स्वीकारते हुए लिखा कि नौटंकी और भांडों में क्षुद्र मानव संबंधी अभिनय होते हैं। भांडों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण 'मुकुंदानंद' और 'रससदन' आदि की परंपरा है और नौटंकी अधिक प्राचीन रामकाव्य या गीतिकाव्य की स्मृतियां हैं। द्विवेदी जी ने कहा है कि लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें 'सट्टक' एवं 'रासक' रूपकों तथा उपरूपकों में स्थान दिया था।

हिंदी साहित्य-कोशकारों के अनुसार, 'स्वांग और लीला के समान ही नौटंकी भी लोकनाट्य का प्रमुख रूप है। इसका रंगमंच भी अस्थिर, कामचलाऊ और निजी है। इसका प्रारंभ मुगल काल से पहले का है। इसमें छोटे-छोटे बालक स्त्रियों का वेश धारण करके अभिनय किया करते हैं। इनकी कथाओं का संबंध पौराणिक आख्यानों से न होकर लौकिक, वीर प्रणयी, भक्त पुरुषों के कार्यों से होता है। पंजाब में गोपीचंद, पूरन भक्त और हकीकत राय का संगीत अत्यधिक लोकप्रिय है।' उन्होंने आगे लिखा है — 'नौटंकी, स्वांग, भगत प्रायः पर्यायवाची हैं। वस्तुतः भगत शब्द बताता है कि यह

कभी भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम होगी, किंतु आज भगत में भक्ति का अथवा धार्मिक तत्व का स्थान उसके आरंभिक अनुष्ठानों में अथवा मंगलाचरण में रह गया है। स्वांग या भगत मूलतः संगीत रूपक है। इसमें यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, शृंगार रस प्रधान अथवा प्रेमगाथा की कोटि की रचनाएं ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला या रोमांस का संस्पर्श किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए। इसी को नौटंकी भी कहा जाता है। नौटंकी वस्तुतः नौ टंक तौल वाली कोमलांगी नायिका रही होगी। वही संगीत-रूपक में प्रस्तुत की गई और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत-रूपक या स्वांग ही नौटंकी कहा जाने लगा है।'

नौटंकी के संबंध में एक किंवदंती मशहूर है—स्यालकोट में गजे सिंह नामक एक राजा था, जिसके दो पुत्र—भूप सिंह और फूल सिंह थे। बड़ा भाई विवाहित था, किंतु छोटा फूल सिंह अविवाहित। एक दिन वह शिकार खेलकर घर वापस आया। उसे जोरों की प्यास लगी थी, इसलिए उसने अपनी भाभी से शीघ्र पानी लाने को कहा, भाभी ने तुरंत पानी देने के बजाय ताना मारा कि इतना नखरा है, तो नौटंकी (मुल्तान की राजकुमारी) से व्याह कर ले। भाभी के ताने से वह विचलित हो गया और नौटंकी की तलाश में मुल्तान को चल पड़ा। वहां उसने किसी प्रकार नौटंकी की मालिन को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह उसके पास एक सुंदर हार पहुंचा दे। मालिन ने ऐसा ही किया। हार देखकर नौटंकी काफी प्रसन्न हुई और मालिन से उसके बनाने वाले के विषय में पूछा। मालिन ने बताया कि हार उसके भांजे की बहू ने बनाया है। नौटंकी ने उसे देखने की इच्छा जाहिर की। फूल सिंह स्त्री वेश में मालिन के साथ नौटंकी के कक्ष में उपस्थित हुआ और अपने विषय में उससे सारी बातें कह सुनाई। इस प्रकार वह नौटंकी से व्याह करने में सफल हुआ। संभव है, इसी के नाम पर इस लोकनाट्य शैली का नाम नौटंकी पड़ गया हो। राजकुमारी नौटंकी की कथा पर पं. मुरलीधर ने 1901 ई. में *नौटंकी* गाथा लिखी, जो काफी लोकप्रिय हुई।

अब यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि नौटंकी का उत्स *नाट्यशास्त्र* से ही उद्‌भूत हुआ है। भले ही इसका रूप भिन्न-भिन्न रहा हो।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में भी यह शैली प्रचलन में थी। तेरहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयास से इस नाट्यशैली को आगे बढ़ने का मौका मिला। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से भारत में स्वांग लोकनाट्य का प्रचलन था। स्वांग का अर्थ ही कोई वेश धारण करने से है, जिसे नकल भी कहते हैं। औरंगजेब के समय भी स्वांग तथा स्वांग के समान लोकनाट्य भगत प्रचलन में था। दरअसल नौटंकी उसी स्वांग की एक शैली है। दीनदयाल के अनुसार 'नौटंकी शब्द नवनाटक का अपभ्रंश रूप है। लोकमंच का स्वांग नवनाटक ही रहा होगा।' बहरहाल, यह मानना पड़ता है कि नौटंकी की जड़ें बहुत गहरी हैं और कभी यह लोकानुरंजन का सशक्त माध्यम रही है।

इसका प्रमुख वाद्य नक्कारा या नगाड़ा है। हर अंतरे के बाद नगाड़े की समवेत धुन विषय की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। लगभग एक शताब्दी पूर्व उत्तर भारत में यह ग्राम-भावना का प्रतीक थी। इसकी शोहरत के नगाड़े उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश के दूरदराज के गांवों में बजते थे। तत्कालीन रईसों की रईसी इस बात से आंकी जाती थी कि कौन कितनी नौटंकी कंपनियों का आयोजन एक साथ कराता है। नगाड़े की गमक पर आसपास के दस-बारह कोस के ग्रामीण इसके आस्वादन के लिए टूट पड़ते थे। उस समय न तो सिनेमा थे और न ही दूरदर्शन या आकाशवाणी जैसे मनोरंजन के कोई अन्य साधन ही। ऐसे में नौटंकी की लोकप्रियता स्वाभाविक थी।

वैसे, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हाथरस में हाथरसी स्वांग को विशेष लोकप्रियता मिली। इसे संगीतमर्मज्ञ नत्थाराम गौड़ ने सफलता के अंतिम सोपान तक ले जाने का अथक प्रयास किया। इस समय देश की जनता अपनी विशिष्ट जातीय पहचान को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्षरत थी और इस दौरान जातीय लोकानुरंजन की दिशा में भी छिटपुट प्रयास चल रहे थे। बंगाल की जात्रा, महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भवाई के समानांतर हिंदीभाषी प्रदेश में ख्याल, लावणी, नाच, भगत, सांप-सपेरा आदि लोकनाट्य रूप भी अपनी यथास्थिति से उबरने के लिए प्रयत्नशील थे। इस प्रक्रिया में पंजाब के जगाधरी से लेकर उत्तर प्रदेश के आगरा, ब्रज एवं अमरोहा तक लोकानुरंजन की किसी सशक्त विधा की तलाश जारी थी। एक तरफ यदि मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र से आरंभ हुई ख्याल-लावणी की परंपरा थी, तो दूसरी तरफ अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह का 'रहस' और 'इंदर सभा'।

सन् 1830 में हाथरस के वासुदेव जी वासम ने हाथरसी स्वांग का आरंभ किया था। उन्होंने एक अखाड़े की स्थापना की, जिसका नाम 'सेठ वासम का अखाड़ा' पड़ा। उनका पहला स्वांग *स्याहपोश* खेला गया, जो काफी चर्चित रहा। उनसे प्रेरित होकर वहीं के चिरंजी लाल, गणेशी लाल, गोविंद राम, बुद्धिसेन एवं लक्ष्मणदास आदि ने अलग अखाड़े की स्थापना की। नौटंकी या स्वांग की यही परंपरा आगे विकसित होती रही और अंत में इसमें नत्थाराम जी के आ जाने से एक नई जान आ गई। कालांतर में इसे व्यावसायिक स्वरूप प्रदान किया गया, जिसका नाम 'नत्था-चिरंगी मंडली' रखा गया। इसके पश्चात हाथरस में बटुकनाथ, कल्याण राय, निष्कलंक, दीका-घासी, दीपचंद दीपा आदि के नाम से मंडलियां बनीं, जिन्हें काफी शोहरत मिली। इससे प्रेरित होकर कानपुरी नौटंकी स्थापित हुई। इस शैली के प्रमुख किरदार श्रीकृष्ण पहलवान ने काफी ख्याति अर्जित की। त्रिमोहन लाल को तो नौटंकी का संरक्षक ही माना जाता है।

इस क्रम में नत्थाराम शर्मा गौड़ के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। नौटंकी विधा में अत्यंत कुशल होने के कारण उन्हें 'अभिनय सम्राट' तक कहा जाता था। उन्होंने *मोरध्वज, अमर सिंह का भतीजा, सत्य-सिंधु, हरिश्चंद्र, भक्त पूरनमल, चंद्रावलि का झूला, इंदर हरण, निहालदे का झूला, रूपवसंत, महारानी तारा, दुर्गावती, श्रीमती मंजरी, नल चरित्र, रानी पद्मावती, स्याहपोश, आल्हा का व्याह* आदि अनेक स्वांगों की रचना की और उनका मंचन भी किया। नत्थाराम के सभी स्वांग उन दिनों काफी लोकप्रिय हुए। स्वांग प्रस्तुत करते समय वह लावणी, बहरेतवील, छंद, दोहा, चौबोला, दुबोला, ठुमरी, ग़ज़ल, दादरा, रेहता और कव्वाली को प्रस्तुत करते थे, फलतः दर्शक मंत्रमुग्ध हो उठते थे। उस समय आज की भांति लाउडस्पीकर भी नहीं थे। उन्होंने लोकमंच की नाटकीय मुद्रा के विभिन्न पहलुओं को इस सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया कि उनकी शोहरत सर्वत्र फैल गई और इस लोकनाट्य की ओर प्रायः सभी वर्गों का ध्यान आकृष्ट हुआ। उनकी ख्याति इस कदर फैली कि अहिंदीभाषी क्षेत्रों के अनेक लोगों ने हिंदी सीखना आरंभ कर दिया। उनके लोकनाट्य का विषय चरित्र बल का विकास, वीरता और देशप्रेम की भावना को जागृत करना था, मात्र प्रेमपरक विषय नहीं। धार्मिक एकता की भावना विकसित करना भी उनका लक्ष्य नहीं था। इस कारण सभी धर्मों एवं संप्रदायों के लोगों ने उनकी काफी प्रशंसा की।

नत्थाराम शर्मा का अखाड़ा अतिशय लोकप्रिय था, जिसके उस्ताद इंदरमन थे। उनके अखाड़े में हरमुख राय, गोविंद राय, चिरंजीलाल, नारायण दास, प्रशादी लाल शायर, मदनलाल, गनेशी लाल, हीरालाल, जानकी प्रसाद, भोलानाथ, बाबू खां, मुन्ना खां एवं घूरे खां जैसे मंजे हुए कलाकार थे। बाद में और व्यक्ति उनके अखाड़े से जुड़े।

नौटंकी की लंबी लोकरंजन की परंपरा तो रही ही है, इसके साथ ही इसने सामाजिक जागरण की भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सीधे रूप से कुछ कहना अनेक प्रकार की परेशानियों को आमंत्रण देना था। साहित्यकार भी जेल की यंत्रणा और अंग्रेजों की क्रूरता के समक्ष कुछ लिख या कह पाने की स्थिति में नहीं थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने अभिधा का सहारा न लेकर लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया। कितनों ने तो भारत के अतीत का गौरवगान करते हुए वर्तमान के संबंध में मात्र संकेत भर कर दिया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, गोपालशरण सिंह, नेपाली, प्रदीप, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, श्याम नारायण पांडेय, महादेवी वर्मा आदि कवियों तक ने ऐसे प्रतीकों का सहारा लिया, जिनके माध्यम से वे अपने संदेश जन सामान्य तक संप्रेषित करने में सक्षम रहे।

ठीक ऐसी ही जरूरत लोकनाट्य नौटंकी के साथ भी थी। चूंकि भारत गांवों का देश है, जिसके अधिसंख्य नागरिक ग्रामांचल के हैं, उनका जीवन-जगत ग्रामांचल का है, उनका परिवेश ग्रामांचल का है, अतः वे ग्रामांचल की भावना को बहुत नजदीक से समझते हैं। लोकनाट्य ने इस भावना को राष्ट्रप्रेम की ओर उन्मुख किया। भारत की पतनशीलता को स्वांग के रूप में जनसामान्य के सम्मुख रखा। स्वदेश की दुर्दशा का एक समग्र चित्र प्रस्तुत किया। राष्ट्रचेतना जगाने के ख्याल से उन्होंने कुछ नहीं किया, मगर उनके प्रस्तुतीकरण का ढंग ही ऐसा था, जिसके कारण स्वतः लोकचेतना जागृत हुई।

'आजादी की लड़ाई में लोकनाट्य नौटंकी का योगदान' विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए राजकुमार श्रीवास्तव ने अपने संकलन *सुराजी रणभेरी* में कहा है कि इस काल में लोकनाट्य का योगदान काफी महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने लिखा है—'1857 ई. के गदर के साथ ही अंग्रेजों के अत्याचार को समाप्त करने के लिए भारत का हर वर्ग तत्पर हो उठा था। इन्हीं वर्षों में लोगों का मनोरंजन करते हुए अंग्रेजों के विरुद्ध देश में क्रांति की लहर प्रसारित-प्रचारित करने के पवित्र अभीष्ट को लेकर नौटंकी का पूरा जगत टूट पड़ा।' इस प्रकार स्वतंत्रता संग्राम के बलिदानों को लक्ष्य कर जनसमूह को एक सार्थक भावबोध प्रदान करने की दिशा में नौटंकी का एक अत्यंत ऐतिहासिक महत्व हो गया। भारत के वीर शहीदों से प्रेरित होकर उस्ताद मुरलीधर की शिष्य-परंपरा अलीगढ़ निवासी मुरसान के लाला बाबू ने नौटंकी *गांधी हरन उर्फ सपने का कमाल* लिखा। गांधीजी के संबंध में अनेक कल्पित घटनाएं उल्लिखित की गईं। इस नौटंकी का प्रभाव लोकमानस पर इतना पड़ा कि लोग क्रांति की भीषण आग में कूद पड़ने के लिए उद्यत हो उठे। श्रीलाल रचित उक्त नौटंकी में गायकी तथा कथानक को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जिससे जनमानस अपने राष्ट्रनायक के लक्ष्य से परिचित होकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उक्त नौटंकी में लावणी, दोहे और छंद के माध्यम से भावों को संप्रेषित करने का सफल प्रयास किया गया है।

अंग्रेजों के दमन-चक्र से बचने के लिए उस समय की अधिकांश नौटंकियों में लक्षणा का प्रयोग किया गया है। कन्हैयालाल चतुर्वेदी रचित *पिता-पुत्र* में इसी लाक्षणिकता का प्रयोग किया गया है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1924 में हुआ था। इस नौटंकी में प्रह्लाद के चरित्र को गांधीवादी सत्याग्रही के रूप में चित्रित किया गया है। प्रह्लाद अंग्रेजी सल्तनत के विरुद्ध अपने साथी सत्याग्रहियों को एकत्र कर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए हर बलिदान करने के लिए उकसाता है। इसमें भी दोहे और छंदों का प्रयोग किया गया है।

1931 में श्रीकृष्ण पहलवान ने *वीर बालक* नौटंकी लिखी। इसके माध्यम से देश के कोटि-कोटि जवानों को अपने राष्ट्र के लिए, अपनी स्वतंत्रता के लिए, आत्म-बलिदान के लिए ललकारा गया है। इसमें भी गांधीवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। जवानों को अहिंसक तरीके से अपने अधिकार मांगने की सीख दी गई है। इसमें अभिव्यक्ति का माध्यम ग़ज़ल और शेर बनाए गए हैं। इनकी दूसरी नौटंकी *बलिया क़ा शेर* में बलिया के अमर शहीद चितू पांडेय की रोमांचक गाथा का वाणी दी गई है। राष्ट्र की अखंडता के लिए इसमें हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश भी है। इसी तर्ज पर लखनऊ के मुनींद्रनाथ गोस्वामी उर्फ कक्कू जी ने *बलिया बलिदान* की रचना की जो दर्शकों द्वारा अत्यधिक सराही गई।

श्रीकृष्ण पहलवान की ही एक और नौटंकी *शहीद भगत सिंह* का जब मंचन किया गया, तो देश के नवयुवक काफी प्रभावित हुए। युवकों को तो इससे इतनी प्रेरणा मिली कि वे स्वतंत्रता संग्राम की ज्वाला में कूद पड़ने के लिए उद्यत हो गए। इस नौटंकी ने मानो युवकों को आत्माहुति के लिए सभी तरह से उत्प्रेरित किया। इस नौटंकी का 'पलना गीत' काफी लोकप्रिय हुआ।

महिलाओं को भी इस लोकनाट्य के माध्यम से उत्प्रेरित करने का सार्थक प्रयास किया गया। इन नौटंकियों से भारतीय महिला वर्ग में राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति की भावना जागी। इनमें *झांसी की रानी लक्ष्मीबाई* सर्वप्रमुख थी। इसके प्रत्येक बहरेतवील में महिलाओं में राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने की अदम्य शक्ति थी। इसके अतिरिक्त *असहयोग चढ़नी, जुल्म की आग* आदि का योगदान भी सराहनीय रहा।

इसी शृंखला की नौटंकी *सुभाषचंद्र बोस* ने तो तहलका ही मचा दिया। नेताजी के देशभक्तिपूर्ण जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर राष्ट्र के अनेक युवक आत्म-बलिदान के लिए उद्यत हो उठे। स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान यह नौटंकी अतिशय लोकप्रिय एवं प्रेरक सिद्ध हुई। इससे राष्ट्रीय एकता को बहुत बल मिला।

नत्थाराम जी के दिवंगत होने के बाद स्वांग लेखक रूपनाम जी ने नत्थाराम जी के नाम से ही *बंगाल का शेर, जवाहर जीवन, अबुल कलाम आजाद, नेताजी, राजेंद्र प्रसाद जी* आदि अनेक नौटंकियों की रचना की, मगर उन्हें अपेक्षित ख्याति नहीं मिल पाई।

इलाहाबाद के रामराज त्रिपाठी, श्रीराम सिंह, दक्खिनी उस्ताद, कोकिला बाई, राजाराम पांडेय आदि कलाकारों ने नौटंकी के माध्यम से संपूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना जगाने का कार्य किया। वे सभी गांधी, नेहरू और शास्त्री जी सरीखे नेताओं की सभाओं में लोकगीत के माध्यम से जागृति पैदा करने में लगे हुए थे।

आजादी की लड़ाई में इन नौटंकीकारों का विशेष योगदान रहा है—श्रीकृष्ण पहलवान, नत्थाराम गौड़, मुरलीधर राय, लक्ष्मी नारायण, श्रीराम मेहरोत्रा, चुन्नीलाल पचासा, मोती, बुद्धी, इस्माइल, नन्हे फर्रुखावादी, शंकर बाजपेयी फक्कड़ आदि।

पृष्ठ 60 पर जारी

संस्मरण

संघर्ष ही उनका जीवन था

भरी जवानी में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी शील जी जीवन भर अकेले ही रहे, पर घर की चारदीवारी के बाहर उनका अपना एक विशाल परिवार बन गया था। **विष्णु प्रभाकर** *के संस्मरण।*

संघर्ष शब्द जब आंखों के सामने उभरता है तो वह शीघ्र ही एक ऐसे व्यक्ति का रूप ले लेता है जिसका वास्तविक नाम है मन्नू लाल त्रिपाठी 'शील'। कालांतर में यह 'शील' उपनाम ही उनकी पहचान बन गया था। यह नाम उन्हें उनके किसी मित्र ने दिया था, जो उन्हें पसंद नहीं था फिर भी जीवन भर यही उपनाम उनकी वास्तविक पहचान बना रहा। शील जी का जन्म 15 अगस्त, 1914 को पाली-भोगीपुर, कानपुर (उ.प्र.) में एक ब्राह्मण किसान परिवार में हुआ था।

भरी जवानी में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी वह जीवन भर अकेले ही रहे पर घर की चारदीवारी के बाहर उनका अपना एक विशाल परिवार बन गया था—असंख्य किसान-मजदूरों और साहित्यिक मित्रों का परिवार।

उन्होंने खेतों में हल चलाया। इसी दौरान किसानों के जीवन को पास से देखने का अवसर मिला और उनके उत्थान के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि उनकी पहली महत्वपूर्ण और सशक्त रचना *किसान* नाटक रही। यह नाटक उन्होंने तब लिखा था जब वह प्रसिद्ध अभिनेता और निर्देशक पृथ्वीराज के पृथ्वी थियेटर्स से जुड़े थे। सन 1951 से 1956 तक उन्होंने वहां काम किया। *किसान* के अतिरिक्त एक और नाटक *तीन दिन और तीन घर* उन्होंने इस काल में लिखा था। *किसान* नाटक उन्होंने स्वयं पृथ्वीराज के कहने पर लिखा था। उन्हीं के शब्दों में, "एक दिन उनके यहां पहुंचे तो उन्होंने कहा, 'कवि जी हमारे लिए नाटक लिखिए।' उन्होंने पेशगी सौ रुपये भी दिए। तब मैंने अपना पहला नाटक *किसान* लिखा। उन्होंने पढ़ा तो बल्लियों उछल पड़े, बोले, 'क्या बात है?"

यही *किसान* नाटक उनकी प्रतिनिधि रचना बना। उसने जो कीर्तिमान स्थापित किया उसका प्रमाण है पृथ्वी थियेटर्स में स्वयं पृथ्वीराज के निर्देशन में उसका बार-बार मंचन। राष्ट्रपति भवन में भारत के पहले राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद के सान्निध्य में उसका अभिमंचन हुआ। भारत में तो वह सात सौ वार से भी अधिक मंचित होता रहा। भारत से बाहर लेनिन विश्वविद्यालय में भी उसका मंचन हुआ।

जब राष्ट्रपति भवन में यह नाटक दिखाया गया, मैं वहीं था। जब मैं वहां जा रहा था तो अचानक शील जी दिखाई दिए। मैंने उनसे कहा, "क्या आप यह नाटक नहीं देखेंगे?"

उन्होंने उत्तर दिया, "पृथ्वीराज जी ने मेरे आलेख में कई परिवर्तन किए हैं, विशेषकर अंत में। मैं उनको स्वीकार नहीं करता। उनसे मेरा नाटक कमजोर हो गया है।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं आपकी व्यथा समझ सकता हूं पर यह तो शाश्वत समस्या है। कभी-कभी प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी यह आवश्यक हो जाता है लेकिन नाटक की मूल संवेदना को हानि नहीं पहुंचनी चाहिए।"

वह बोले, "यही तो! मेरे नाटक को हानि पहुंची है तभी तो मैं कह रहा हूं। मैं नहीं जाऊंगा, आप जाइए।"

और वह नहीं ही गए। मैंने वह नाटक देखा। कुल मिलाकर प्रस्तुतीकरण और कथ्य की दृष्टि से तो वह मुझे एक सशक्त नाटक लगा। वह सचमुच भारतीय किसान के जीवन का मार्मिक चित्रण था। बल्कि मैं कहूंगा, उसके मार्मिक जीवन का दस्तावेज था।

शील जी क्यों दुखी हुए यह मैं तब जान सका जब बाद में पृथ्वीराज जी पर लिखे उनके लेख को पढ़ा। उन्होंने पृथ्वीराज जी के विविधतापूर्ण रूप-रंग, पहनावे, सहज-सरल स्वभाव और नाट्य कला के प्रति उनके समर्पण भाव का कुछ ही शब्दों में जीवंत चित्रण करते हुए लिखा, 'जयप्रकाश नारायण को वह विशेष रूप से मानते थे। जयप्रकाश जी जब भी बंबई आते थे तो पृथ्वीराज उन्हें अपने यहां ठहराते थे। जब मेरा नाटक *किसान* जयप्रकाश जी ने सुना तो उन्होंने पृथ्वीराज कपूर से कहा, "यह नाटक तो देशवासियों को कम्युनिज्म की ओर ले जाएगा।" इस पर मुझ में और पृथ्वीराज में मतभेद भी हुआ पर बाद में ठीक हो गया।' ('वे दिन वे लोग' लेख से)

वह पृथ्वीराज जी का इतना आदर करते थे कि उस घटना को उन्होंने अपने लेख में ऐसे सहज भाव से दो शब्दों में निपटा दिया, कड़वाहट नहीं आने दी। यह घटना उनके संवेदनशील जीवन का परिचय भी देती है। उनसे जब भी बातें करने का अवसर मिला, मैंने हर बार इस बात को गहराई से अनुभव किया।

अपने विश्वास को जीने का उनमें अदम्य साहस था। लखनऊ रेडियो पर काम करते हुए एक तेज कविता पढ़ने के कारण उन्होंने नौकरी छोड़ने में तनिक संकोच नहीं किया।

सन 1930 से 42 तक वह गांधीजी के आंदोलन से समर्पित भाव से जुड़े रहे लेकिन अहिंसक व्यूह-रचना उनके संघर्षशील स्वभाव को रास नहीं आई। वहां से मुक्ति पाकर उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी में शरण ली और उसके सक्रिय सदस्य बन गए। इसके बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। दोनों आंदोलनों में उन्होंने बार-बार जेल यात्रा की।

क्रांति मूलक-रचनात्मक कार्य उनके तन-मन में बस गया था। उसको जन-जन तक पहुंचाने के लिए उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में जागरण का बिगुल बजाया। उसमें भी नाटक की विधा उन्हें विशेष रूप से रास आई। वह समझ गए थे कि यही एक ऐसी विधा है जिसके द्वारा जनता को जागृत किया जा सकता है क्योंकि यह कला दृश्य होने के कारण सीधे मस्तिष्क पर प्रहार करती है। यह सबसे सशक्त सामाजिक कला है, इस बारे में मैं उनसे पूरा सहमत था। सन 1964 में जब वह कानपुर के किदवई नगर के मोहल्ले में रहने लगे तभी मेरा छोटा बेटा भी एंप्रेस मिल में इंजीनियर के पद पर लगा था। मैं वर्ष में कम से कम एक बार 15-20 दिन वहां रहकर लिखने का कार्य करता था, तब उनसे भेंट हो जाती थी। तब हम इन विषयों पर

अक्सर चर्चा करते थे। वह कानपुर में सन 1962 में ही आ आए थे। यहां तीन वर्ष तक उन्होंने *उपमा* मासिक पत्रिका का संपादन किया। इस पत्रिका का सर्वाधिक चर्चित 'राहुल विशेषांक' उन्हीं के संपादन में प्रकाशित हुआ। उसे जो सम्मान मिला वह उनकी प्रतिभा और परिश्रम दोनों का ही प्रमाण है। वस्तुतः वह जो काम हाथ में लेते उसके प्रति पूरी तरह समर्पित हो जाते थे। पर अपने विचारों पर दृढ़ रहने के कारण यह काम उन्होंने छोड़ दिया।

फिर 1963-64 में अपने गांव के किसानों का उसी तन्मयता से नेतृत्व किया। वह मात्र अन्याय के प्रतिकार के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे अपितु अपनी सूझबूझ से नई दिशा, नया जीवन भी देते थे। उन्होंने किसानों और मजदूरों के बीच काम करते हुए अनुभव किया कि जब तक गांव को सड़कों के द्वारा शहरों से न जोड़ा जाएगा तब तक किसान-मजदूरों में न तो जागृति आएगी और न वे अपने प्राप्य को पा सकेंगे। यहां भी वह केवल शोध की सीमा में नहीं बंधे रहे बल्कि किसान-मजदूरों की मदद से गांव से शहर तक एक सड़क बनाकर भी दिखा दी।

कानपुर में एक दिन खाना खाकर हम दोनों टहलते-टहलते उनके घर की ओर जा रहे थे, बीच-बीच में नाना विषयों पर बातें भी होती रहती थीं। मैंने उनसे पूछ ही लिया, "शील जी, क्या आप समझते हैं कि सड़कें बन जाने से समस्या का हल हो जाएगा?"

वह बोले, "क्या तुम्हें शंका है?"

मैंने कहा, "मैं शंका की बात नहीं करता। मैं स्वयं सारे भारत को सड़कों के द्वारा जोड़ने का सपना देखता रहता हूं पर एक डर मुझे है कि सड़कें बन जाने पर गांव के लोग शहर की ओर भागेंगे। पर शहर के लोग वहां ऐसे नहीं जाएंगे, वे अपनी शहरी सभ्यता के साथ आक्रमण करेंगे, और ...."

बीच ही में बात काटकर शील बोले, "क्या तुम समझते हो कि मैं यह बात नहीं जानता। शहर के पास जो गांव हैं उनकी हालत देखकर मैं सब कुछ समझ गया हूं। लेकिन और कोई रास्ता भी तो नजर नहीं आता।"

मैंने कहा, "क्या यह अच्छा नहीं होगा कि शहरों और गांवों को सड़कों से जोड़ने से पहले गांव के लोगों को अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति दें। सृजनात्मक कार्यों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति को ठीक करें। उनमें शिक्षा का प्रचार करें। पंचायत राज स्थापित करें। तभी वे नागरिक सभ्यता के विषाक्त प्रभाव से बच सकेंगे और उनके आक्रमण का जवाब दे सकेंगे।"

शील जी ने कुछ क्षण रुककर कहा, "इन सब बातों पर तो मैं विचार कर चुका हूं। मैं जानता हूं, उनकी आर्थिक स्थित सुधारे बिना और उन्हें शिक्षित किए बिना मेरा स्वप्न पूरा नहीं होगा। मैं भी गांव को गांव ही बने रहने देना चाहता हूं, शहर नहीं बनाना चाहता। शहर का आकर्षण उनके लिए घातक हो सकता है पर क्या ये दोनों काम साथ-साथ नहीं चल सकते।"

मैंने उत्तर दिया, "चल सकते हैं पर तभी जब आप जैसे समर्पित व्यक्ति इस देश में एक आंदोलन के रूप में सामने आएं।"

वह हंस पड़े, बोले, "कम से कम हम दोनों यहां तो एकमत हैं। मैंने *किसान* नाटक यूं ही नहीं लिखा है। यह प्रश्न बार-बार मुझे चेतावनी देता रहता है पर मेरी भी सीमा है।"

मैंने कहा, "सीमा तो है और एक से ही अनेक बनते हैं।"

शील जी बोले, "मैं तो अपना काम कर रहा हूं और मुझे विश्वास है कि एक दिन हमारा सपना पूरा होगा। हमारे जीवन काल में हो या न हो पर उसके होने की नींव तो पड़ ही जाएगी। लेकिन एक दिन सरकार स्वयं सामने आएगी। जनतंत्र में उसे वोटों की जरूरत तो होती ही है। ऐसे समय में ही उन्हें सही नेतृत्व की आवश्यकता है। आरंभ तो हो ही गया है, अंत भी होगा और वह अंत किसान-मजदूर की यह यात्रा के रूप में होगा।"

वह जीवन भर नाना रूपों में इसी उद्देश्य के लिए संघर्ष करते रहे। पहले गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन में, फिर मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़कर उन्होंने किसान-मजदूरों की दशा सुधारने के लिए संघर्ष किया। उनका 'आदमी का गीत' इस बात का प्रमाण है, कितना सशक्त, कितना प्रेरणादायक है वह नया संसार बनाने का संकल्प :

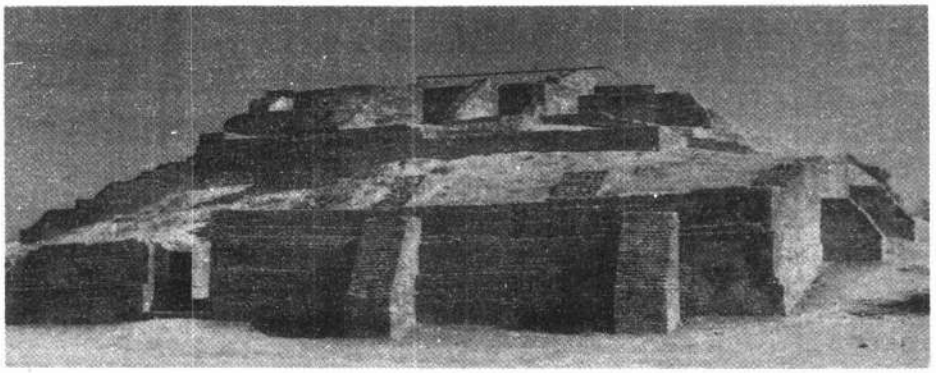
देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल।
नया संसार बसाएंगे, नया इंसान बनाएंगे।
सुख सपनों के सुर गूंजेंगे,
मानव की मेहनत पूजेंगे,
नई चेतना, नए विचारों
की हम लिए मशाल
समय को राह दिखाएंगे
नया संसार बसाएंगे, नया इंसान बनाएंगे।
देश हमारा धरती अपनी, हम धरती के लाल।
नया संसार बसाएंगे, नया इंसान बनाएंगे।

उनकी भलाई के लिए एक नया संसार बनाने का जो सपना उन्होंने देखा था उसी को साकार करने के लिए जूझते रहे, कर्म और साहित्य दोनों के द्वारा। परंतु उन्हें साहित्य के क्षेत्र में वह सम्मान और वह मान्यता नहीं मिल पाई जिसके वह अधिकारी थे। जब वह गांधीजी के प्रभाव में थे तो *चरखा* शीर्षक से एक कविता संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। अनेक कहानियां भी लिखीं। उनकी कुछ रचनाएं अभी भी अप्रकाशित हैं। उनमें एक उपन्यास भी है। प्रकाशित न होने का एक कारण यह भी रहा कि वह साहित्य के सत्य से गहरे नहीं जुड़े सके। जनता का सत्य ही उनका लक्ष्य रहा—कर्म और शब्द दोनों में। इसीलिए सुप्रसिद्ध कवि शमशेर के शब्दों में उन्होंने, 'भाषा तत्व का अध्ययन कम किया जिसके कारण उनकी कविता इस पक्ष में कमजोर पड़ी।' लेकिन दूसरी ओर माहेश्वर का कहना है, 'कविता में यथार्थ और उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा और लय पर जैसा अधिकार कवि शील का है, कविता और उसमें व्यक्त यथार्थ को जिस कौशल से वह थामे रहते हैं (उनकी मुक्त छंद कविताओं में यह पकड़ टूटी है) उसी तरह नाटक के ढांचे और यथार्थ के ढांचे में एक संतुलन बनाए रखने में काफी हद तक सफल रहे हैं शील। लंबे कथोपकथन और भाषण उनके नाटकों में नहीं हैं।'

समीक्षकों में यही मतभेद क्या शील की शक्ति का परिचायक नहीं है। कहीं-कहीं दुर्बलता होते हुए भी उन्होंने अपने विषय को कमजोर नहीं होने दिया।

दिल्ली भी जब वह आते थे तो कानपुर की तरह घर अवश्य आते और नाना विषयों पर विचार-विनिमय अवश्य करते। कभी एक क्षण को भी वह यह अनुभव नहीं होने देते थे कि हमारे विचारों में मूलभूत अंतर है। क्योंकि उस समय अन्याय के प्रतिकार में मैं सदा उनके साथ था। मुझे एक बात उनमें सबसे अच्छी लगती थी कि वह किसी की धौंस में आकर काम नहीं करते थे। अनेक सरकारी, गैर-सरकारी संस्थानों से जुड़ने-टूटने का इतिहास इस बात का प्रमाण है। साहित्यकार की अभिव्यक्ति पर वह किसी प्रकार अंकुश नहीं सह सकते थे। कुछ समय के लिए वह गीत और नाटक प्रभाग से भी जुड़े परंतु शीघ्र ही वह उसके निदेशक कर्नल गुप्ते से टकरा गए। मैं काफी समय तक उस विभाग की कार्यकारिणी में रहा और मैंने अनुभव

पृष्ठ 31 पर जारी



कच्ची कुटी स्तूप

बौद्ध नगरी श्रावस्ती

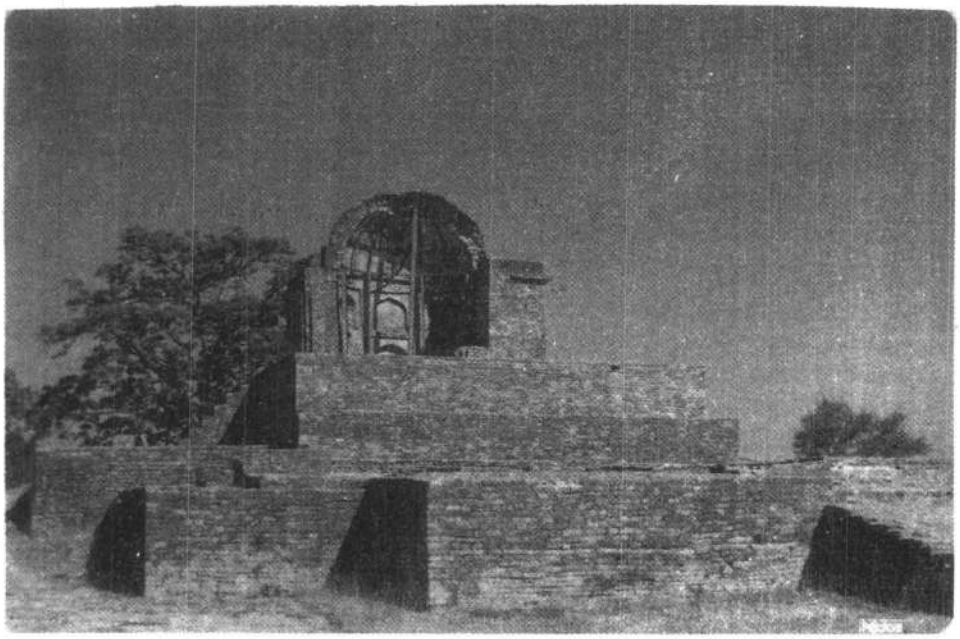
देवकीनंदन डिमरी

पूर्वी उत्तर प्रदेश में राप्ती के तट पर बसा सांप्रदायिक सौहार्द का प्रतीक स्थल श्रावस्ती प्राचीन समय से ही प्रबुद्ध समाज के लिए आकर्षण का केंद्र रहा है। गोंडा और बहराइच जिलों के संगम पर बिखरे पुरातात्विक अवशेष इस नगर की समृद्धि के द्योतक हैं। आज श्रावस्ती पुराविदों की कर्मस्थली, बौद्ध संप्रदाय की धार्मिक नगरी एवं सामान्य व्यक्ति के लिए एक मनोरम पर्यटक स्थल के रूप में विख्यात है। कहा जाता है कि महाभारत कालीन राजा श्रावस्त के नाम से ही इस नगर का नाम श्रावस्ती पड़ा। यदुवंशी राजाओं के समय में यह स्थान कौशल प्रदेश के समृद्ध नगरों में गिना जाता था जबकि पुराणों में उत्तर कौशल प्रदेश की राजधानी के रूप में संदर्भित है। कालांतर में चंपकपुरी एवं चंद्रिकापुरी के रूप में भी इस स्थान की पहचान बनी रही। अब सहेत एवं महेठ नामक दो छोटे-छोटे कस्बों तक ही इस नगर का अस्तित्व रह गया है। वस्तुतः यह नगर प्राचीन समय से ही दो विभिन्न नामों से पहचान बनाए था। विशाल सुरक्षा प्राचीर से घिरा आवासीय नगर जो श्रावस्ती के नाम से जाना जाता था एवं प्राचीर से बाहर दक्षिण में धार्मिक नगरी जेतवन के नाम से प्रसिद्ध थी। यही परंपरा आज तक जीवित रही है भले ही इसका स्वरूप एवं नाम क्यों न बदल गया हो।

बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व श्रावस्ती जैन मतावलंबियों की गतिविधियों का प्रमुख केंद्र रहा है। जैन तीर्थंकर संभवनाथ एवं चंद्रप्रभा की जन्मस्थली एवं भगवान महावीर की कर्मस्थली होना भी इस स्थान की नियति रहा है। छठी शताब्दी ई.पू. में यह नगर अपनी पराकाष्ठा के चरमोत्कर्ष पर था जब कि यहां का राजा प्रसेनजित था। यही वह समय था जब भगवान बुद्ध के सान्निध्य में बौद्ध धर्म तेजी से प्रसारित हो रहा था, जिसका तत्कालीन समाज पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। संभवतः बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की सरलता ही इसका मुख्य कारण रही होगी। जैन नगरी श्रावस्ती भी इस प्रभाव से अछूती न रह सकी और यह स्थान एक बौद्ध नगर के रूप में अधिक प्रचलित होने लगा।

श्रावस्ती का प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिंडक भगवान बुद्ध एवं उनके उपदेशों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि अपने मित्र सारिपुत्र के सहयोग से उसने सम्राट प्रसेनजित के पुत्र जेत, जो कि नगर से बाहर जेतवन में बने महल में रहते थे, का बुद्ध के स्वागत हेतु उद्यान ही खरीद डाला। कहा जाता है कि मूल्य के रूप में उद्यान को स्वर्ण मुद्राओं द्वारा ढक दिया जाना तय हुआ और इसमें लगभग अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं समा गईं। तदुपरांत इस स्थान पर भव्य विहार की स्थापना की गई जो जेतवन विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान बुद्ध का जेतवन विहार आगमन उनकी ज्ञान प्राप्ति का तीसरा वर्ष था। बाद में लगातार 24 वर्षों तक श्रावस्ती भगवान बुद्ध का वर्षावास बना रहा। इस तरह यह स्थान बौद्ध धर्म की गतिविधियों का एक मुख्य केंद्र बन गया। बौद्धों के सर्वाधिक पवित्र ग्रंथ *त्रिपिटक* में संग्रहीत उपदेशों में यहां दिए गए उपदेशों की संख्या सबसे अधिक है, *अंगुतर निकाय* के तीन चौथाई से अधिक सुत्त जेतवन की देन हैं, बौद्ध भिक्षुओं के विनय संबंधी नियमों में अधिकांश का निर्देशन जेतवन में ही हुआ था। इस तरह श्रावस्ती बौद्ध साहित्य की रचना का एक प्रमुख केंद्र बना। अंगुलिमाल जैसे महादानव के मानव बनने का इतिहास भी श्रावस्ती से ही जुड़ा है। साहित्य में वर्णित है कि अंगुलिमाल मानव अंगुलियों से निर्मित माला पहनता था। एक समय ऐसा भी आया जब माला के लिए अंगुलियों की कमी को पूरा करने के लिए यह राक्षस अपनी मां का वध करने ही वाला था कि अचानक भगवान बुद्ध के आगमन ने उसे इस कुकृत्य से बचा लिया। उसे मानवता का पाठ पढ़ाया और अंगुलिमाल के जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। कच्ची कुटी एवं पक्की कुटी नामक स्तूप जो श्रावस्ती के आवासीय परकोटे के अंदर स्थित हैं तथा जो वास्तुकला के अनूठे उदाहरण हैं, इसी घटना के प्रतीक हैं।

महान सम्राट अशोक की कलिंग विजयोपरांत धर्मयात्रा का श्रावस्ती भी एक पड़ाव रहा है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा वृत्तांत के अनुसार सम्राट



अशोक ने जेतवन विहार के पूर्वी द्वार पर 21 मीटर ऊंचे दो पाषाण स्तंभ बनवाए जिनके शीर्ष क्रमशः सिंह एवं चक्र से सुसज्जित थे। इसके अलावा स्तूप का भी निर्माण करवाया।

जेतवन से प्राप्त अवशेषों से इस बात का संकेत मिलता है कि कुषाण काल की प्रारंभिक सदियों में यह नगर प्राकृतिक विपदा के दौर से गुजरा। संभवतया राप्ती नदी के जलप्रवाह का इसे कोपभाजन बनना पड़ा। भगवान बुद्ध के प्रति आस्था के कारण प्राचीन स्मारकों का यथास्थान पर अविलंब पुनर्निर्माण किया गया। इसके अलावा भी अनेक मंदिर, स्तूप एवं विहारों का निर्माण कुषाणकालीन शासकों द्वारा जेतवन एवं श्रावस्ती में करवाया गया। पुरातात्विक परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि जेतवन की स्थापना इसी काल की देन है। कहा जा सकता है कि यह जेतवन के पुनर्जीवन का काल था।

गुप्त कालीन राजाओं के दौर में जब कि ब्राह्मण धर्म तेजी से फल-फूल रहा था, यह बौद्ध नगरी काफी लंबे समय तक अपनी अस्मिता को बनाए रख सकी। पर अंततः इसके प्रभाव से बची न रह सकी। कई बौद्ध स्मारकों को इस काल में हिंदू स्मारकों में परिवर्तित कर दिया गया। लेकिन यह प्रभाव अधिक समय तक टिक नहीं पाया। हर्ष के समय तक श्रावस्ती का गौरव क्षीण हो गया और धीरे-धीरे अधिकांश इमारतें खंडहरों का रूप लेने लगीं। लगभग बारहवीं सदी तक श्रावस्ती में बौद्ध धर्म किसी न किसी रूप में जीवित रहा और फिर यह स्थान खो गया गुमनामी के गर्त में। सन् 1863 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के महानिदेशक सर अलेक्जेंडर कनिंघम के प्रयासों द्वारा इस बौद्ध नगरी का पुनरुद्धार प्रारंभ हुआ। ❑

संघर्ष ही उनका जीवन था

पृष्ठ 29 से आगे

किया कि स्वभाव के अच्छे होने पर भी गुप्ते अंततः थे तो सैनिक ही! और सैनिक अधिकारी अपने अधीनस्थ व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहते थे परंतु शील जैसे स्वाभिमानी संघर्षशील व्यक्ति यह कैसे सहन कर सकते थे। बहुत जल्दी ही वह वहां से भी अलग हो गए।

गुप्ते को ड्रामा का इतना ज्ञान नहीं था जितना शील को और फिर वह क्रांतिकारी विचारों के थे और इप्टा से जुड़े हुए थे इसलिए समझौता करना उन्होंने नहीं सीखा था। भाई वीरेंद्र नारायण (जो गुप्ते के बाद निदेशक बने) ने इन सब बातों की पुष्टि की। ड्रामा उनका विषय था। उन्होंने 'प्रसाद' का विशेष अध्ययन किया था। यह सब बताते हुए वीरेंद्र जी ने मुझे यह भी बताया कि गीत और नाटक प्रभाग वाले पारसी थियेटर युग में रहते थे तो शील जी से उनका मेल हो ही नहीं सकता था। ये बातें शील जी ने मुझसे भी कही थीं।

तब अक्सर हम मिलते थे। मैंने पाया, उनका स्वाभिमान पूर्ववत था पर आर्थिक समस्या भी तो आंख-मिचौली खेलती रहती थी। उन दिनों विशेष-कर एक बात मैंने अनुभव की कि वह कहते कुछ नहीं थे पर उनके अंतर में कहीं एक शून्य था जिसकी पीड़ा जब-तब बातों में प्रगट हो ही जाती थी। उनका कोई अपना उनकी शैया के पास बैठकर उनकी बातें सुनता और अपनी सुनाता।

वह दिल्ली आए। मैंने फोन पर बातें की। हम दोनों मिलने को आतुर थे पर यह संभव न हो सका। वह अकेले कहीं नहीं जा सकते थे। मैं उनके जितना अशक्त तो नहीं था पर पैर में फ्रैक्चर हो जाने के बाद बस में सफर नहीं कर सकता था। आंखों की ज्योति भी घट गई थी। इसी ऊहापोह में वह कानपुर लौट गए। मुझे लगता रहा, काश, उनका सम्मान सादतपुर (दिल्ली की एक बस्ती) में न होकर दिल्ली नगर में होता।

यह अप्रैल, सन 1990 की बात है। वह लौटकर रोगग्रस्त हो गए और जैसा होता है—'डाक्टर्स डिफर एंड पेशेंट्स सफर' यही उनके साथ हुआ। रोग का ठीक निदान होते-होते वह संघर्षशील योद्धा कैंसर से पीड़ित पाया गया। मृत्यु ने मानो कहा, बहुत जूझ चुके, अब आराम करो। अंततः 23 नवंबर, 1994 को उन्होंने मृत्यु का आलिंगन स्वीकार कर लिया। मैं कल्पना कर सकता हूं, उस असह्य पीड़ा को सहते हुए भी उनके मन में किसान-मजदूरों का दर्द टीस रहा होगा।

साहित्य के विधि-विधानों पर भले ही वह प्रथम श्रेणी में स्थान न पाएं, साहित्य के सत्य की दृष्टि से ऊंचे न हों, जीवन के सत्य की कसौटी पर वह सोलह आने खरे उतरते हैं।

उनका यही लक्ष्य था और उसे उन्होंने पा लिया था। उनकी याद करता हूं, उनके संघर्ष की याद करता हूं, एकांत में बैठकर उनसे की बातों को याद करता हूं और उनके सामने अपने को बौना अनुभव करता हूं। मैं जितना उनको जान पाया, वह अपने उपनाम 'शील' के अनुरूप ही थे। अपने और अपने विश्वास में उग्रवादी होते हुए भी व्यवहार में वह सदा ईमानदार और स्नेहशील इंसान बने रहे।

कुछ लोग रहते हैं जिनकी दृष्टि अंतर तक पैवस्त हो जाती है और जीवन भर एक ज्योति जलाए रखती है जो अंततः ऊर्जा बन जाती है।

वही ऊर्जा मेरी शक्ति है। ❑

तीन कविताएं : मनीष मिश्रा

कविता बचाएगी हमें

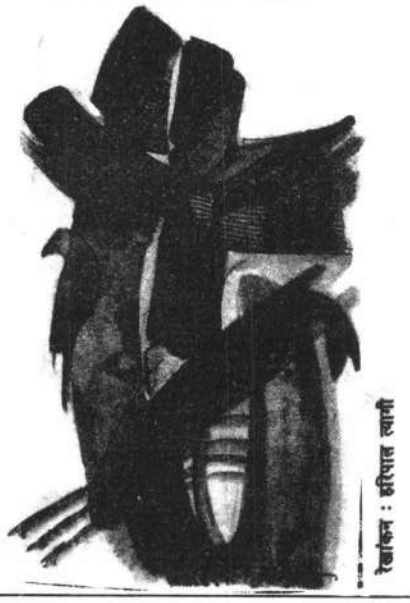
जब पिता करेंगे अपेक्षा
और मां प्रतीक्षा
जब बहनें बुनेंगी स्वेटर
अपने सपनों को उधेड़कर
जब शिथिल पड़ जाएंगे
हवन और समिधा में गुंथे संस्कार
जब सोए पड़े होंगे
गलियारे में देवता
गर्मी और मच्छरों से परे
जब उकता जाएंगे हम
अपने होने के बोझ
कुतरे हुए रिश्तों
या किसी कामातुर बारिश से
तब —
किसी आश्चर्य की तरह
कविता बचाएगी हमें।

तुम

मैं देखता हूं तुम्हारे हाथ
चटख नीली नसों से भरे
और —
अंगुलियों में भरी हुई उड़ान
मैं सोचता हूं
तुम्हारी अनावृत देह की
चकित धूप
और उसकी गर्म आंच
मैं जीतता हूं तुमको
तुम्हारे व्याकरण और
नारीत्व की शर्तों के साथ
मैं हारता हूं
एक पूरी उम्र
तुम्हारे स्वप्न में।

हम अकेले रह जाएंगे

एक हल्की-सी बारिश में
हम अकेले रह जाएंगे
गुम हो जाएंगी हमारी सांसें
एक विराट धक-धक में,
लौट जाएंगे सपने
पुराने बीमार रास्तों पर,
हमारे खौले हुए शब्द
हो जाएंगे नपुंसक
बदल जाएंगे हमारे पहचान-पत्र
हमारे शब्द और कविताएं
हमें छोड़ जाएंगी
हमारी निरंतर घृणा
और प्रेम के सबसे कोमल क्षण
हम नहीं चुन पाएंगे
अपने लिए थोड़ी-सी प्रार्थना
प्रेम के सुरक्षित हिस्से
अपनी किताबें और आदतें
अपने पूर्वाग्रह और लालसाएं
छूट गई ट्रेनों के लिए
किए गए अफसोस,
और रहस्यमयी फिल्मों के क्लाइमेक्स
और
एक अंतस मौन
हम नहीं चुन पाएंगे ये सब
एक हल्की-सी बारिश के पूर्व
जो हमें अकेला कर जाएगी।



रेखांकन : हरिपाल त्यागी

एक कविता : तेजिंदर

उन्हें शक है

उन्हें शक है कि
मैं मुस्कुराता हूं
रात-रात भर जागकर।

कड़े पहरे का इंतजाम है
खिड़कियों के बाहर
उनके बनाए नियमों के मुताबिक
रात में अकेले बैठकर
मुस्कुराना
अपराध है।

अपनी बैठकों में
वे पूछते हैं
बार-बार यही एक सवाल
इतने सख्त नियमों के रहते
कोई क्यों मुस्कुराता है आधी रात
जब हमें नींद आती है।

उन्हें शक है कि
पानी का एक बहुत बड़ा पोखर
मैंने अपनी जेब में छिपा रखा है
जिसे मैं
नदी में तब्दील कर सकता हूं
कभी भी

वे डरे हुए हैं कि
पानी शहंशाह का हुक्म क्यों नहीं मानता
हर तलाशी के बाद
फिर भर आता है
मेरी मुस्कुराहट में

उन्हें शक है कि
एक दिन मैं
इस पानी का
इस्तेमाल करूंगा
उनके खिलाफ

मेरी मुस्कुराहट
मेरे भीतर
उनके विरुद्ध
लगातार बह रही एक नदी है
वे इस नदी से डरते हैं
नदी से डरकर वे भागते हैं
अपने-अपने बंद कमरों में
और देखते हैं
अलमारियों में सम्हालकर रखे नक्शे
और दुबक जाते हैं
अपने-अपने तहखानों में

यह कितना अजीब है कि
तहखाने की तार-बेतार व्यवस्था पर
अभी भी
बहुत भरोसा है उन्हें
जबकि नदी उनके पीछे है

उन्हें शक है मुझ पर
और मैं आश्वस्त हूं कि
मेरी मुस्कुराहट
अभी भी उनकी नींद में
खलल डालती है।

दो कविताएं : अश्वघोष

निश्चिंत हूं मैं

आज मेरी नींद के साथ है
पूरी एक रात
निश्चिंत हूं मैं

निश्चिंत हूं कि
पूरी रात आएगी नींद
आएंगे सपने पूरी रात
सपनों में जागेंगी इच्छाएं
करेंगी प्रतीक्षा
दिन निकलने की

कल मेरे साथ होगा
समूचा एक दिन
इच्छाओं को पूरा करने के लिए।

बर्फ में दबे हुए अफसोस

अब यहां
आपको नहीं मिलेंगे फूल
सिर्फ तितलियां हैं : सिसकती हुई
आपको नहीं मिलेंगे पक्षी
सिर्फ घोंसले हैं : बिखरे हुए
आपको नहीं मिलेंगे पेड़
सिर्फ ठूंठ हैं : जमीन में गढ़े हुए
अब यहां
आपको नहीं मिलेंगे आदमी
सिर्फ अफसोस हैं
बर्फ में दबे हुए।

संस्मरण

पांचवें दशक के लेखकों की मनोदशा

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

भारतीय जीवन में पांचवां दशक अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस दशक में द्वितीय विश्वयुद्ध, जो कुछ दिन पहले ही प्रारंभ हुआ था, अपनी चरम गति पर पहुंचा और समाप्त हुआ। इसी समय भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ हुआ। यही वह काल था जब नेताजी सुभाषचंद्र बोस भारत से निकलकर जर्मनी चले गए थे और जर्मनी से सिंगापुर पहुंचे थे, जहां उन्होंने आजाद हिंद फौज की कमान संभाली और स्वतंत्र भारत के लिए सशस्त्र युद्ध किया। इसी समय बंगाल में भीषण अकाल पड़ा, जिसने भारत के, समूचे भारत के लेखकों और कवियों को प्रभावित किया और इसी दशक में भारत स्वतंत्र हुआ, उसका विभाजन हुआ, उसकी विभीषिकाएं और समस्याएं सामने आईं।

हिंदी लेखकों के लिए और हिंदी पत्रों तथा पत्रकारों के लिए यह युग चुनौती का था। विदेशी कागज मुश्किल से प्राप्त होता था, उस पर नियंत्रण हो गया था। नए अखबार निकल नहीं सकते थे, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर प्रबल बंधन थे, लेखकों और पत्रकारों के लिए पुस्तक-प्रकाशन या पत्र-प्रकाशन दोनों ही कठिन थे और जो इन उद्योगों पर निर्भर थे, उनको चिंताएं सताती रहती थीं। फिर भी उस अत्यंत भीषण युग में हिंदी पत्रकारों में आपस में संपर्क थे, एक-दूसरे के सुख-दुख की चिंता थी, सिद्धांतवादी विरोधों के बावजूद सामाजिक सद्भाव के लक्षण दिखाई देते थे। उस समय के संपादक अच्छे लेखकों और अच्छी रचनाओं की तलाश में रहते थे यद्यपि वे बहुत कम पारिश्रमिक दे पाते थे। लेखकों के पत्रों का उत्तर देना अनिवार्य था। आज का-सा समय नहीं था कि संपादक लेख पाकर लंबी-चौड़ी रकम का चैक तो भेज देता है, लेकिन लेखक को लेख की प्राप्ति, स्वीकृति या अस्वीकृति, प्रशंसा या आलोचना के दो शब्द लिखना अपना काम नहीं समझता। उन दिनों विशेष तौर पर स्वाधीनता से पूर्व, मुझे लेखन और संपादन दोनों काम करने का अनुभव प्राप्त हुआ। लेखन से तो मैंने अपने को 1937 से ही जोड़ लिया था और जुलाई 1939 से *जागृति* और *ब्रजभारती* (दोनों मथुरा से) तथा बाद में एक वर्ष प्रयाग की *माया* से और लगभग चार वर्ष तक टीकमगढ़ से प्रकाशित *मधुकर* से संबंधित रहा। इन्हीं दिनों अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखता रहा क्योंकि जिन पत्रिकाओं का मैं संपादन कर रहा था, उनमें वे सारे विषय समाते नहीं थे, जिनमें मेरी रुचि थी। फलस्वरूप अनेक लेखकों और पत्रकारों से पत्र-व्यवहार हुआ। अब जब मैं उन पुराने पत्रों को देखता हूं तो मुझे आश्चर्य होता है कि उस समय के लोग कितने सहज, सहृदय और उदार थे, जो गुण आज बड़े-बड़े ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों में भी मुश्किल से दिखाई देते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी अपनी कविताओं और *कर्मवीर* के संपादन के कारण हिंदी के अत्यंत श्रेष्ठ कवियों और पत्रकारों में गिने जाते थे। उनकी पुस्तक *हिम किरीटनी* पर ओरछा राज्य का देव पुरस्कार भी प्राप्त हो गया था, जो उस समय हिंदी जगत का सबसे बड़ा पुरस्कार था। वह 1943 में हरिद्वार में होने वाले हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए थे। हरिद्वार जाने के लिए उनका रास्ता ललितपुर और झांसी होकर ही था, इसलिए मैंने उन्हें एक पत्र लिखा, जिसमें उनकी रवानगी की तारीख और ट्रेन के बारे में पूछा था। प्रतिनिधियों के बारे में भी कुछ कहना था, वह भी लिख दिया। उसके उत्तर में उन्होंने मुझे जो पत्र लिखा, वह उनकी विनम्रता का प्रतीक था और यह भी बताता है कि वह प्रचार और प्रदर्शन से कितना बचते थे। उन्होंने लिखा :

> 'कृपा कार्ड मिला। धन्यवाद। प्रतिनिधियों वाली बात मैंने जान ली। आपकी दूसरी बात मानते हुए डरता हूं। यानी किस ट्रेन से जाऊंगा, यह बताते हुए। आप लोग रास्ते में न जाने मेरी कौन-सी दशा बनाएं। अतः चुपचाप ही भाग जाना चाहता हूं। या फिर ऐसे रास्ते क्यों न जाऊं, जहां पंडित बनारसीदास जी का क्षेत्र ही न पड़े—यानी उनके द्वारा बहकाए हुए लोगों का।
>
> 'आपके दादाजी ने, जो धूम अखबारों में मचा दी है, मैं देखता हूं। शासन की भाषा में सोचता तो, मैं उन्हें धूम मचाने के लिए कुछ सुनाता। पर खैर।'

जब मैं जुलाई, 1941 में *माया* कार्यालय में पहुंचा, तो उसमें हिंदी के जो प्रतिष्ठित लेखक थे, उनमें थोड़े ही लिखते थे। एक जैनेंद्र कुमार थे और दूसरे विष्णु प्रभाकर। वैसे *माया* के कुछ अपने लेखक थे, जो बहुत लोकप्रिय थे, जिनमें से दो से मेरा घनिष्ठ संबंध रहा यानी द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' से और कुंवरानी तारादेवी से। मैंने कुछ नए लेखकों का प्रवेश कराना चाहा और यशपाल (विप्लव कार्यालय, लखनऊ) और भारतभूषण अग्रवाल तथा प्रभाकर माचवे की कहानियां भी प्राप्त कीं। भारतभूषण अग्रवाल मेरे मित्र और मथुरा के साथी थे और उनकी प्रथम काव्य-पुस्तक *छवि के बंधन* प्रकाशित हो चुकी थी। परंतु वह कहानियां भी लिखते थे और उस समय कलकत्ता के एक मारवाड़ी पत्र *समाज सेवक* का संपादन भी कर रहे थे। उनको मैंने एक कहानी भेजने के लिए लिखा था, जो वह न भेज सके। जब मैंने तकाजा किया तो उनका उत्तर, जो 17 अक्तूबर, 1941 को लिखा गया

था, इस प्रकार था :

'पत्र मिला। नवंबर में ही तो तुम्हारा अंक निकलेगा—यही सोचकर जल्दी न की। और फिर मैं अपने दीपावली अंक में कितना व्यस्त होऊंगा—जरा सोचो तो। एक सप्ताह—72 पृष्ठ—और इतने बड़े काम का पहले कोई अनुभव नहीं। फिर भी मेरा ख्याल है कि अंक सफल रहेगा। तुम्हारे पास भेजूंगा, अपनी राय देना। और उसके परिवर्तन में क्या *माया* नहीं मिल सकती? लिखो, ताकि आफिस में व्यवस्था करा दूं।

कहानी साथ में है, आशा है रुचेगी, और समय पर मिल जाएगी। पिछले तीन वर्षों में मैंने पाया कि कहानियां ही सबसे अधिक 'पेइंग' होती हैं। इसलिए हर एक टाइप की एक-दो कहानियां मैं हरदम अपने स्टाक में रखता हूं। जब जरूरत पड़े तब लिखना।'

प्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक यशपाल उन दिनों हिंदी में बहुत सक्रिय और सशक्त लेखक के रूप में स्वीकार किए जा रहे थे। क्रांतिकारी आंदोलन से थोड़ा लगाव होने के कारण मैं उनका आदर करता था और मैंने उन्हें *माया* के लिए कहानी लिखने के लिए राजी कर लिया। काफी चिट्ठी आती-जाती रहती थीं। फरवरी मास में आगरा में संयुक्त प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन हो रहा था, जिसमें मैं सम्मिलित हो रहा था और मैंने उन्हें भी वहां चलने के लिए लिखा था। इसके उत्तर में उन्होंने 16 फरवरी, 1942 के एक पत्र में लिखा।

'आगरे नहीं जा सका। सुविधा नहीं थी और उपयोग भी कुछ जान नहीं पड़ा। एक कहानी भेज रहा हूं—'होली नहीं खेलता', विलंब तो हो ही गया है। यदि सुविधा हो तो पसंद आने पर इसे मार्च अंक में देने का यत्न करें क्योंकि बात होली की है। बाद में वह अफेक्ट शिथिल पड़ जाएगा। और यदि असुविधा न हो तो फरवरी में छपी कहानी और इस कहानी का पारिश्रमिक मार्च में जल्दी ही भिजवाने का यत्न करें, आवश्यकता है। कहानी पसंद न आने पर लौटा दें, और जगह काम आ जाएगी।

'हां, पहले की ही भांति एक्स्ट्रा-प्रिंट पहले से भेज दें तो उपयोगी होगा। योग्य सेवा से और कहानी पहुंचने की खबर से सूचित कीजिए।'

इस पत्र में उन्होंने बड़ी बेतकल्लुफी से सुविधा न होने और साहित्य सम्मेलन का कुछ विशेष उपयोग न होने के बारे में लिखा है। उसी संदर्भ में पारिश्रमिक जल्दी मिल जाए, उसका भी उल्लेख है। कुछ छिपाया नहीं है। सही स्थिति स्पष्ट लिख दी है।

बेतकल्लुफी उस समय के लेखकों का एक विशेष गुण था। औपचारिकता लेखक के लिए अच्छी नहीं समझी जाती थी और लेखक अपने मन की बात खुले ढंग से कहता था। टीकमगढ़ से प्रकाशित *मधुकर* का एक बुंदेलखंड प्रांत निर्माण विशेषांक प्रकाशित हुआ। उसके बारे में उनकी राय जानने के लिए मैंने बांदा के प्रसिद्ध वकील और कवि और अब तो अत्यंत प्रतिष्ठित प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल को एक पत्र लिखा। उनकी कविताएं मुझे बहुत पसंद थीं। उन्होंने अपने 26-12-1943 के पत्र में लिखा :

'आपका अंक तथा पत्र दोनों ही मुझे ठीक समय पर प्राप्त हो चुके हैं, किंतु कार्यवश मैं आपको उत्तर नहीं दे सका था। इस छुट्टी में यह काम कर रहा हूं। अंक पूरा तो मैंने पढ़ा नहीं, पर बनारसीदास जी का तथा आपका अवश्य मैंने पढ़ लिया है। दोनों ही उत्तम रहे। यह एक सराहनीय प्रयत्न तथा कल्याणप्रद प्रयोग है। इसकी सफलता की मैं हृदय से कामना करता हूं। प्रांत निर्माण की भावना सर्वथा लौकिक एवं सामाजिक और भौगोलिक आधारों पर निर्भर रहा करती है, इससे मैं इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना चाहता हालांकि यह भावना इस सदी के अनुपयुक्त प्रतीत होती है। कर्मण्य व्यक्ति ही इस प्रांत की एक सीमा विशेष के अंतर्गत करके उपकार कर सकता है। नव वर्ष कल्याणकारी हो, यही मेरी शुभ इच्छा है।'

मधुकर के जनपद आंदोलन अंक के संपादन का भार मुझे सौंपा गया था। मैंने *हंस* के संपादक और उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के पुत्र अमृत राय को उस अंक के लिए लेख लिखने का निवेदन किया था। उनसे मेरा कोई विशेष संबंध नहीं था। हां, उनके पत्र में यशपाल के उपन्यास *दादा कामरेड* की समालोचना, जो उन्हें यशपाल जी ने भेज दी थी, जरूर छपी थी। उनके साथी शिवदान सिंह चौहान, छात्र आंदोलन में मेरे सहयोगी रहे थे और यह मैं जानता था कि अमृत राय जी का रुख़ प्रगतिवादी है। अमृत राय जी का लेख नहीं आया, परंतु जो पत्र आया, वह उनकी विनम्रता और उत्साह को प्रकट करता था। उन्होंने लिखा :

'मुझे दुख है कि मैं आपके आदेशानुसार *मधुकर* के विशेषांक के लिए अपने विचार नहीं भेज सका। आपका 23 जुलाई का पत्र मुझे समय से मिल गया था, पर कुछ विचित्र परिस्थितियों के कारण मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका। आपने *मधुकर* का विशेषांक मुझे भेजा नहीं? मैं उसे देखने के लिए बहुत उत्सुक हूं।'

सन् 1941 में मैं लाहौर गया था। वहां जिस मकान में ठहरा था, उसी में जयनाथ नलिन भी रहते थे। वह दैनिक *मिलाप* में काम भी करते थे और हिंदी शिक्षण के लिए एक कालेज भी चलाते थे। अच्छे व्यंग्य लेखक थे। लाहौर में उनके साथ सामीप्य हो गया और हम साथ-साथ प्रातःकाल घूमने जाया करते थे। अगले वर्ष जुलाई मास में *आज* में या किसी अन्य पत्र में उनका एक स्कैच छपा। वह मुझे पसंद आया और *मधुकर* कार्यालय में उस समय दो अन्य लेखक बैठे हुए थे, शायद स्व. शोभाचंद्र जोशी और कृष्णकुमार द्विवेदी थे, उन्हें भी पसंद आया। इस पर मैंने उन्हें एक मुबारकबाद का पत्र लिखा और यह भी लिख दिया कि दो अन्य व्यक्तियों को भी, जो साहित्यकार हैं, वह लेख पसंद आया। और भी कुछ लिखा था कि वह क्या कर रहे हैं, उसके उत्तर में उनका एक बड़ा हार्दिक पत्र प्राप्त हुआ। उन्होंने लिखा :

'आपकी मुबारकबादी पर धन्यवाद। आप तीन कलाकारों को मेरा लेख पसंद आया, इसकी मुझे प्रसन्नता है। आपके अलावा अन्य दोनों महानुभाव अपरिचित हैं, उनको भी आपके द्वारा धन्यवाद देता हूं। इस प्रकार के अन्य स्कैच भी आप *आज* में पढ़ें, और अन्य सुहृदजनों को पढ़ाएं। साथ ही उनकी कमियों से मुझे सूचित करें, तो मुझे अधिक लाभ हो। वैसे यह आप अनुभव करेंगे कि हिंदी में यह चीज नई है। अगला स्कैच 'सफेद हाथी' *आज* में जा रहा है। समय मिले तो उसे अवश्य देखें।'

'मकान आबाद क्या होगा, बर्बाद हो चुका। जीवन का इतिहास ही बदल गया है। रही याद करने की बात, सो भूलता नहीं हूं। याद करने के लिए बहुत हैं—और उन बहुतों में से एक ने मेरी स्मृति को ही मथ डाला है। आपको याद नहीं होगा, हम सैर को जाते समय एक नींबू के पेड़ के नीचे खड़े हो गए थे—वर्षा आने पर—और वहीं वह साहब खड़े थे। मैंने संकोचवश बताया नहीं था और खड़ा रहना असंभव होने पर हम वहां से भाग चले थे। खैर।

'भाई आजकल जिंदगी से ही परेशान हूं। मस्तिष्क और आंखों की पीड़ा ने बेतरह परेशान कर रखा है। *मिलाप* का काम भी छोड़ दिया

है। कालेज बंद कर दिया है। दिन भर आवारा घूमना और समय बिताना, यही काम है। उपन्यास लिखा जाएगा, उसमें और कई चैप्टर जुड़ गए हैं। हीरोइन में बहुत सोचना पड़ रहा है। स्वास्थ्य खराब होने के कारण उत्तर देर में दे रहा हूं।'

संपादकों का रुख किस तरह का होता था, इसकी झांकी साप्ताहिक *विश्वमित्र* के संपादक रामनारायण यादवेंदु के 23 जून, 1944 के पत्र से प्राप्त होती है। उन्होंने लिखा :

'आपका 30-6-44 का पत्र मिला। आप जैसे उनके घनिष्ठ संपर्क में रहने वाले पत्रकार यदि श्रद्धेय पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के संबंध में जीवनी के रूप में कुछ नहीं लिख सकेंगे तो और कौन लिख सकेगा!

'आप यदि पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी, श्री रामानंद चटर्जी, पं. रुद्रदत्त शर्मा आदि के संबंध में लिखें तो अच्छा हो। कृपया *विश्वमित्र* के लिए कोई सुंदर लेख शीघ्र भेज दीजिए। आप यदि चाहें तो मासिक के लिए भी भेज दें।'

हम लोग टीकमगढ़ में रहते थे और वह भी नगर से चार मील दूर और साहित्यकारों से मिलने और बात करने के लिए तरसते थे। इसलिए बाहर से कोई आए तो बड़ा उत्सव-सा लगता था। इसी खयाल से भदंत आनंद कौसल्यायन को, जो उस समय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के मंत्री थे, कुंडेश्वर निमंत्रित किया गया। पहले बनारसीदास चतुर्वेदी ने पत्र भेजा और उसके बाद मैंने उन्हें पुनः आग्रह किया। सारनाथ से आठ जुलाई 1944 को उन्होंने लिखा :

'आपका और आपसे भी पहले श्री चतुर्वेदीजी का पत्र मिला। 'वर्षा-वास' के लिए इतना सुखद और इतना आग्रहपूर्ण निमंत्रण शायद ही कहीं से मिला हो। दिल चाहता है कि पर हों और उड़कर टीकमगढ़ पहुंच जाऊं। लेकिन उधर सिंहल से तीन नए भिक्षु आए हैं। वे सिंहली, पाली आदि के पंडित हैं और उन्हें हिंदी की सड़क पर चलाने के लिए मैं बुरी तरह से अनिवार्य समझा जा रहा हूं। लोग पूछ रहे हैं कि आखिर 'घर' से बाहर क्यों जा रहे हो? इधर सम्मेलन भी मुझसे अपेक्षा रखता है कि मैं जयपुर जा सकूंगा। पिछली कार्य-समिति ने श्री पाठक जी को रिपोर्ट लाने तथा कुछ क्षेत्र तैयार कर आने के लिए भेजा है। इसलिए मैं सोचता हूं कि सावन भर तो अभी सारनाथ न छोड़ूं। उसके आगे यदि मैं भिक्षुओं को हिंदी की सड़क पर थोड़ी दूर चलाकर आगे के लिए कोई दूसरी व्यवस्था कर सकूं, साथ ही सम्मेलन की ओर से जयपुर यात्रा से भी निश्चिंत हो जाऊं, तो फिर टीकमगढ़ चला ही आऊं।

'अब टीकमगढ़ आने में मेरे मन में किसी प्रकार की दुविधा नहीं है। मैं और मेरे साथी श्री सुशील कुमार किसी भी दिन पूर्व सूचना देकर ही आ पहुंच सकते हैं।

'और ललितपुर के रास्ते मैं आ ही चुका हूं। रास्ता और सिकतर साहब परिचित हैं ही। वर्षा-वास न सही शरद-वास ही सही।'

काशी में यदि भगवान दास, श्रीप्रकाश, संपूर्णानंद और अमृत राय जैसे करुणामय व्यक्ति थे, जिन्होंने या तो अपनी सम्मति भेजी और नहीं भेजी तो उसके लिए विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना कर ली। परंतु वहां दुर्वासा भी थे, जो अपनी बात खरे-खरे ढंग से कहने में संकोच नहीं करते थे। हरिद्वार के साहित्य सम्मेलन ने जनपदीय कार्यक्रम निश्चित करने के लिए एक उप-समिति नियुक्त कर दी थी। हम लोगों की गलती से उस समय उसमें किसी संयोजक का नाम नहीं रखा गया। हिंदी साहित्य सम्मेलन की कार्य-समिति ने बाद में काशी के चंद्रबली पांडे को संयोजक नियुक्त कर दिया। 'जनपद आंदोलन अंक' के लिए मैंने उन्हें एक पत्र भेजा, जिसके उत्तर में 12 अगस्त, 1944 को कार्ड आया।

'कहता तो बहुते मिले, गहता मिला न कोय।

सो कहता वहि जान दे, जो ना गहता होय।।

यदि आंदोलनवीर होता तो आपको जनपद आंदोलन अंक के लिए, समय, कागद और पैसा निकालकर अवश्य कुछ लिखता पर मुझे ऐसा आंदोलन करना नहीं आता जो कहीं से उठता और कहीं जा लगता है। पर सच तो कहें *मधुकर* मंडली में कितने महानुभाव ऐसे हैं जो बुंदेल हैं और बुंदेली उनकी घुट्टी में पड़ी है। क्षमा करें, मैं तो देखता हूं कि इसमें कुछ सार नहीं, हां, आंदोलन का प्रसार गहरा है। इसे तो कोई शेषनाग ही अपने सिर पर धारण कर सकते हैं। मुझे तो तभी इसका बावलापन स्पष्ट हो गया जब एक काशिका व कोशली का बालक निमुक कर मल्ली व भोजपुरी का विधाता बन गया और एक ब्रजी का सपूत सरककर बुंदेली का विश्वामित्र बन गया।

क्षमा करें। जो कुछ कर रहा हूं, करने दें। आंदोलन के शिकार से दूर ही रहने दें।'

इसमें कई व्यक्तियों पर व्यंग्य था। *मधुकर* मंडली में उस समय बनारसी दास चतुर्वेदी और यशपाल जैन दोनों ब्रजभाषा क्षेत्र के थे। मुझे भी वे ब्रज का ही मानते थे यद्यपि मैं जन्म से बुंदेलखंडी हूं। परंतु मथुरा में शिक्षा के कारण वहां ब्रज साहित्य मंडल का संयोजक भी रहा था और *ब्रज-भारती* का संपादक भी। कृष्णानंद गुप्त का, जो गरौठा के रहने वाले थे, उन्होंने नोटिस नहीं लिया। दूसरा व्यंग्य राहुलजी पर था, जो मूलतः काशी के पास आजमगढ़ के रहने वाले थे और बाद में बिहार चले गए थे और उसके बाद फिर बनारसीदास चतुर्वेदी पर टिप्पणी थी। हालांकि बनारसीदास चतुर्वेदी केवल बुंदेलखंडी का ही नहीं, समस्त जन-भाषाओं का समान-रूप से समर्थन कर रहे थे।

यह बानगी है, उस वातावरण की, जो चालीसवें दशक की मनोदशा प्रकट कर रहा है। साधारणतः संपादकों का रुख लेखकों के प्रति बड़ा ही आदरपूर्ण रहता था। प्रसिद्ध कवि तथा पटना से प्रकाशित *बालक* के संपादक रामदयाल पांडे ने 30 मई, 1947 के एक पत्र में लिखा था :

'आपका पत्र मिला, खुशियां मिलीं। इस तरह आप फरार हो जाते हैं कि खुफिया पुलिस भी परेशान हो जाती है। कहां टीकमगढ़, कहां साहित्य-मंडल? और कहां यह लोक-समाचार समिति? लेकिन आपकी—जगदीश की—यह लीला मुझे बड़ी पसंद आई। आपकी स्वतंत्र सत्ता सुखदायिनी हो, यही प्रार्थना है।

बालक आपकी गोद में खेलना और आपके कंधे पर उछलना-मचलना चाहता है। लेकिन एक आप हैं कि बुजुर्गी के आसन से कभी नीचे उतरते ही नहीं। भाई, इसे हमेशा अपने प्यार-दुलार का, पुचकार-चुमकार का हकदार बनाइए।

तो, यह *नवभारत* कब अवतार ले रहा है? पुराना भारत मुर्दाबाद। नए खून को नए भारत की जुस्तजू और तलाश है।

विश्वास है, आपकी जिंदादिली जिंदा है। परंतु कृपया लिखें कि परिवार कहां, और कैसे है? मैं भी सोचता हूं, कभी आऊं। लेकिन भई, मेरी किस्मत के लिए दिल्ली दूर है।'

उनका आग्रह टाला नहीं जा सका। ❑

मठाधीश

विभा रानी



रेखांकन : अनूप सेठी

वह उनसे मिलकर बहुत खुश था। तब अक्तूबर का महीना था और वातावरण में गर्मी और सर्दी की मिली-जुली गंध पसरी हुई थी। गर्मी अपने प्रचंड कालिका रूप को दिखाकर वैसी ही शांत-सी हो गई थी। गर्मी अब ससुराल से रूठकर मायके आई बेटी की तरह लोगों के समझाने-बुझाने के बाद वापस अपनी ससुराल जा रही थी। इसलिए लोगों के मन में उसके जाने से उपजती शांति और राहत का मिला-जुला भाव था। वे अब बड़ी उत्सुकता, बड़ी आतुरता से ठंडी बौराई हवा में शरद रूपी नई बहुरिया के आने के इंतजार में थे। गर्मी का डग भर पीछे जाना और सर्दी का डग-डग आगे आना; दिल्ली के बदलते मौसम की दीवार पर नया रंग-रोगन था।

ऐसे ही खनकते मौसम में जब वह उनसे मिला था तो उसका मन काफी प्रसन्न हुआ था— काफी तृप्त, जैसे भंग-प्रेमी भर लोटा मसालेदार ठंढाई चढ़ाकर छकाछक हो गया हो।

"क्या खूब! इसे ही तो कहते हैं वातावरण को शब्दों द्वारा पकड़ना!" उन्होंने उसकी ऐसी ही किसी अभिव्यक्ति पर दाद दे डाली थी और वह लाजवंती-सा सिकुड़ गया था। उसे लगा कि वह उसके अंदर की चीज को समझ सके हैं।

वह चीज जो उसके मन में थी, दिमाग में थी, जो किसी कनखजूरे की तरह उसके दिमाग में घुसती जा रही थी और उसी कनखजूरे ने उसके दिमाग में रेंगकर उसके दिमाग को इस कदर सुन्न कर दिया था कि वह सब कुछ भुला बैठा था। यह भी कि वह पढ़-लिखकर एक डाक्टर बनना चाहता है। डाक्टर के नाम से ही उसने सपनों के कई महल खड़े कर लिए थे। डाक्टरी का पेशा उसे इतना भव्य लगता कि सपने में भी वह अपने आप को सफेद गाउन पहने, हाथ में स्टेथोस्कोप लिए अस्पताल के वार्डों में राउंड लगाते पाता। एक नशा-सा छाया हुआ था उसके दिमाग पर डाक्टरी का, जिसे और-और चढ़ाने में घरों और अस्पतालों में उनकी इज्जत, रुतबा और महत्व सहायक बनते।

तब उसकी मां काफी बीमार रहा करती थी। दमे की मरीज थी, इसलिए जब-तब वह उखड़ता रहता और उसका दौरा आने पर बगैर डाक्टर के उनकी फूली सांस काबू में न आ पाती। घर में भगदड़ मच जाती। बड़ा भाई डाक्टर को बुलाने भागता, दूसरा डाक्टर के आने में थोड़ी देर होते देख उसी दिशा को भागता। बाबूजी अपनी होम्योपैथी-दवा से दौरे की भयावहता को कम करने का प्रयास करते। मां उनकी दवाओं से थककर उन पर अपना विश्वास ही खो बैठी थी, इसलिए वह जब भी दवा लेकर आते और उससे मुंह खोलने को कहते तो मां चिढ़कर मुंह दूसरी तरफ कर लेती। तब पिता भी असहाय दिखने लगते। उनका चेहरा काफी दयनीय हो उठता। वह पुनः मां से दवा ले लेने का आग्रह करते। विषाद की एक गहरी छाया कुर्ते पर जमे मैल की तरह उनके चेहरे पर छा जाती जिसमें उन पर किए जा रहे अविश्वास के धूल-कण भी चिपके रहते। वह तब मध्यस्थता दिखाता और मां को इस बात पर राजी करता कि जब तक डाक्टर साहब नहीं आ जाते, तब तक वह दवा ले ले। होम्योपैथी का यही तो सबसे बड़ा गुण है कि असर न करेगा तो बुरा प्रभाव भी नहीं डालेगा।

बाहर डाक्टर का रिक्शा रुकता और उनके चेहरे पर छाए व्यस्तता के भाव के साथ ही सभी व्यस्त हो जाते। एक भाई उनका बैग उठाए अंदर आता, दूसरा कुर्सी ठीक करता और बाहर रिक्शा उनको वापस ले जाने के लिए इंतजार करता। वह आले से मां को जांचते, आवश्यक निर्देश देते, सुई लगाने को साथ आए कंपाउंडर से कहते और पर्चा लिखकर विदा हो जाते। शुरू में वे सब पिताजी से फीस लेने में संकोच करते थे क्योंकि वह उन सभी के गुरु, सहपाठी या मित्र होते। पर जल्दी ही उन्होंने इसके लिए सभी को राजी कर लिया था।

डाक्टर के इस रुतबे को अस्पताल में और भी भारी देखता। मरीजों के बीच वह भगवान नजर आता। वह डांट भी देता तो बड़े-बड़े लोग तक खामोशी से सुन लेते थे। इस सबसे वह मन ही मन बहुत प्रभावित हुआ। उसने यह भी देखा था कि प्रैक्टिस जमते ही डाक्टरों के घर में पैसे की बरसात होने लगती थी। इसका साक्षात प्रमाण थे डाक्टरों के वे नवनिर्मित मकान जो महज चार-पांच सालों के दरम्यान बना लिए जाते थे। सो इससे सभ्य, भव्य और पैसे वाला और कोई पेशा होगा, यह उसकी कल्पना से परे था।

पर प्रैक्टिकल में मेंढक की शल्य क्रिया करते-करते उसके हाथ कांपने लगे और मन पर दार्शनिकता छाने लगी, तब उसने वहीं पर अपने डाक्टर बनने के संकल्प को तिलांजलि दे डाली थी। वानस्पतिक पढ़ते हुए जब वह फूलों को तोड़-तोड़कर परागकण और पुंकेसरों की जांच करता तो उसे बड़ी तकलीफ होती। उसे लगता कि ये फूल उससे कह रहे हों: 'मैंने क्या बिगाड़ा था तुम्हारा जो मेरे एक-एक अंग को इस तरह से काट-काटकर मुझे इतनी यंत्रणापूर्ण मौत दे रहे हो!' वे फूल उसके सपनों में आते और धीरे-धीरे एक डरावनी शक्ल अख्तियार कर लेते। तब पूर्णिमा की रात भी उसे काले, भयंकर दांतों वाले राक्षस-सी लगती।

उसने तय किया कि वह साहित्य पढ़ेगा और फूलों की पंखुड़ियों को नष्ट करने की बजाय उन्हें खूबसूरती के नए-नए जामे पहनाएगा और जब उसने माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'पुष्प की अभिलाषा' पढ़ी तो उसे लगा कि वह भी एक फूल बन गया है और उन्हीं रास्तों पर बिछ गया है जिस पर से देश के वीर गुजर रहे हैं, कवि गुजर रहा है।

साहित्य से उसका परिचय पांचवीं-छठी कक्षा से ही होने लगा था जब मां ने उसे प्रेमचंद, रवींद्र, शरत साहित्य आदि पढ़ने को दिए थे। तब उसे यह भी नहीं पता था कि शरत और रवींद्र बंगला साहित्यकार हैं।

अब वह उम्र की उस दहलीज पर खड़ा था जहां से वह भी अपनी पहचान का एक रास्ता निकालना चाहता था। साहित्य जगत में हो रहे अब तक के ऊंच-नीच से वह परिचित होने लगा था। वह यह भी समझ गया था कि साहित्य का सूर्य अब प्रयाग के बदले दिल्ली में उगा करता है। इसलिए बुद्ध बनने की आस लिए वह भी दिल्ली आ गया था। इतनी उठापटक के बावजूद उसे भरोसा था कि सभी लोग एक ही जैसे नहीं होते और अपनी प्रतिभा पर विश्वास होने के कारण उसके मन के एक कोने में उम्मीद का दिया भी जल रहा था कि देर-सबेर उसकी कद्र भी की ही जाएगी। एक दिन वह भी अपनी पहचान बना पाने में सफल हो पाएगा। उसे भी साहित्यांगन में एक स्थान मिलेगा।

सितंबर में वह दिल्ली आ गया था और वहां का मिजाज समझने में जुट गया था—उसी तत्परता से, जितनी तत्परता से वह दिल्ली के रास्तों को पहचानने में लग गया था। उसके एक मित्र ने उससे कहा था, "किसी भी शहर के रास्तों को जानने-पहचानने के लिए जरूरी है कि आप पैदल चलें, खूब पैदल, इससे आपको रास्तों का अंदाजा हो पाएगा।"

अब तक अक्तूबर आ गया था। अब दोपहर की धूप इतनी कड़ी नहीं लगती थी कि आदमी पैदल चलने से घबराए। पर फिर भी वह कभी-कभी घबरा जाता तो वहां की चौड़ी-चौड़ी सड़कों की क्रॉसिंग की गोलाई की शक्ल में दिए गए गोलंबर में बैठ जाता। तब वे परिचित सड़कें ही, जिन्हें वह दसियों बार रौंद चुका होता था, नितांत अपरिचित लगने लगतीं। सिरे तक फैले लंबे, घने पेड़ों की कतारें जैसे कहने लगतीं, 'तुम्हें तो हम पहली बार देख रहे हैं, कौन हो तुम?'

तब वह अपने वजूद के इस अजनबीपन से काफी घबरा उठता। उसे लगता कि उसके अस्तित्व पर ये प्रश्नचिह्न पेड़ों की ये लंबी-लंबी कतारें ही नहीं लगा रहीं, यहां का वह वर्ग भी लगा रहा है, जिसे अपना बनाने, जिसका एक अंग बनने की चाह लिए वह यहां आया था। अब तक वह वहां के उन दो-चार लोगों से मिल चुका था जो काफी प्रगतिशील समझे जाते थे और जिनकी रचनाएं पढ़कर वह उनके दर्शनों की लालसा से अभिभूत हो जाता था। पर उनके ठंडे स्वभाव और उपेक्षित भाव ने उसकी श्रद्धा के मंदिर की ईंटें ढहानी शुरू कर दीं। उसने साफ महसूस किया था कि उन सभी के चेहरों पर ऐसे भाव चस्पां हुए थे कि हर ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा चला आता है लेखक बनकर, जैसे हमने इन्हीं के लिए दफ्तर खोल रखा हो।

उस दिन वह बड़े प्रकाशन समूह वाली उस मासिक पत्रिका में गया जिसके संपादक बहुत बड़े चिंतक समझे जाते थे और जिन्होंने अपने प्रभाव का वशीकरण मंत्र बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों पर भी डाला हुआ था। इस संदर्भ में यह कहना न होगा कि वह कई बड़े-बड़े पुरस्कार बड़े-बड़े लोगों के द्वारा अपने बड़े-बड़े हाथों में प्राप्त कर चुके थे। उसने अपना परिचय और उद्देश्य बताया था। उन्होंने अपनी हिमालयी कुर्सी पर बैठे अपनी फूलती सांसों और फंसी आवाजों के साथ उसकी योजनाएं सुनी थीं और सुनकर उसे यूं देखा था कि वह अपने कच्छप खोल में और भी सिकुड़-सा गया था। उन्होंने उसे फिर कभी आने को कह दिया। वह दुबारा गया। अपनी बातें, अपनी योजनाएं समझाता कि उन्होंने कहा कि आज उन्हें एक जरूरी मीटिंग में जाना है, वह फिर कभी आ जाए।

अब वह तीसरी बार गया था उनके पास अपनी योजनाओं और रचनाओं समेत। उसे विश्वास था कि वे रचनाएं अगर वह देख लें तो प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। उस समय उनके पास एक गेरुआधारी व्यक्ति भी बैठा हुआ था जिससे वह गंगा के प्रदूषण पर बात कर रहे थे। उन्होंने उसकी तरफ ऐसे देखा जैसे साहित्य की गंगा का सारा का सारा प्रदूषण वही है। उनकी नाक-भौं सिकुड़ गई। उन्होंने उसे पल भर घूरा और कहा, "फरमाइए!"

वह हकला गया। बोला, "जी वो ... आपने

बुलाया था...सो ..."

"किसलिए बुलाया था, यह तो याद नहीं। आप आए हैं तो आपको याद होगा ही। फरमा जाइए।"

वह क्षुब्ध हो गया। फिर भी उसने संभल-संभलकर, वाक्य संरचना पर ध्यान देकर, अपने तईं प्रभावशाली भाषा में बात की। पान चबाते हुए उन्होंने घंटी बजाई और चपरासी के अंदर आने पर दो कॉफी का ऑर्डर दे दिया। कमरे में वह तीसरा था। उसे समझते देर न लगी कि यह उसके चले जाने को संकेत-शब्द है। उसने अपनी रचनाएं देनी चाहीं कि 'इस पर विचार कर लें' पर वह बाहर निकल आया। उसे उन गेरुआधारी से संपादक की चल रही गंगा-प्रदूषण की चर्चा याद हो आई।

अब वह काफी क्षुब्ध था और भयभीत भी। इतना कि अब और कहीं भी जाने से डर रहा था। बचपन के डरावने सपने अब पेड़ों जैसे लंबे आकार में आकर उसे और भी डरावने लगे। उसके पास के पैसे खत्म हो रहे थे और रहने का भी स्थायी ठिकाना वह नहीं बना पाया था। उसके सारे मंसूबे पुराने किले से ढहती ईंटों की तरह ढहने लगे थे। उसने सुना था कि 'दिल्ली दिल वालों की है', पर अब उसे वह बेदिल वालों की नजर आने लगी थी।

..... कि तभी उसे अमित भैया मिल गए। अपने ही गांव के अमित भैया, उसके चचेरे भैया अनिल के दोस्त, अनिल भैया भी अमित भैया के साथ ही काफी पहले ही दिल्ली आ गए थे। पढ़ाई भी यहीं की और लेखन तथा पार्टीबाजी भी। पार्टी विशेष से जुड़े होने के कारण वह उस ग्रुप के साहित्यकारों के परिचित थे और अपने बेबाक समीक्षात्मक नजरिए के कारण लोकप्रिय भी। वह चाहता तो अपने उन्हीं अनिल भैया का नाम लेकर अखबारों के दफ्तरों में जा सकता था, पर यूं किसी के नाम का सहारा लेकर जाना अच्छा नहीं लगा क्योंकि वह भोंदू नहीं था। दूसरे, भैया भी साहित्य की एक धारा-विशेष से जुड़े हुए थे। उसे यह अच्छा नहीं लगता था कि वह भी एक धारा-विशेष के सीमित दायरे में, उसकी मांगों और परिभाषाओं के अनुरूप ही लिखे। वह तो साहित्य को अजस्र निर्झरिणी मानता था। वह जिधर का रुख करेगा, वहीं की हवा-माटी की गंध समेटता चलेगा।

अमित भैया से भेंट होने से उसे खुशी हुई। वह भी पत्रकारिता की लाइन में थे और अपने अक्खड़ स्वभाव के कारण कभी किसी अखबार में टिक नहीं पाते थे जिस कारण उनका बायोडाटा उनके बगल में लटके चमड़े के झोलेनुमा बैग में उनके साथ-साथ हमेशा घूमता रहता था। उसकी



रेखांकन : अनूप सेठी

मंशा पर वह हंसे और बोले, "अब साहित्य सिर्फ गुलाब की कलियों और शबाब की लाली तक ही नहीं रह गया है। प्यारे! आगे बढ़ो, आंखें खोलो। हमारे पुराने जमाने के कवियों ने चारणी परंपरा चलाकर जो मूर्खता की है, उसने हम सबकी आंखों पर ऐसा भ्रमजाल फैला दिया है कि सटा पेट और झुकी रीढ़ हमें दिखती ही नहीं, पर इनसे उबरने की जरूरत है। गरीब की रोटियों पर भी लिखो और कैबरेगर्ल के थिरकते नितंबों और उछलती छातियों पर भी। देखो कि कहां क्या दूरी है उनमें।" फिर वह हंसे, "हा! हा! थिरकते नितंब और उछलती छातियां। इन्हें तुम शुद्ध जुबान में भी बोल सकते हो और जितना ही इनका प्रयोग करोगे उतने ही यथार्थवादी कहलाओगे।"

उसका मन और भी भारी हो गया—दलदल में फंसे व्यक्ति जैसा, जो दलदल शरीर में लिपट जाने से घिना रहा हो और कुछ न कर पाने से अप्रसन्न भी हो रहा हो। अश्लील शब्दों का प्रयोग करने से साहित्यकार यथार्थवादी बन जाता है—साहित्य और समाज का यह समीकरण उसकी समझ में नहीं आया। उसने देखा कि अमित भैया बात-बात में निःसंकोच उन ठेठ शब्दों का प्रयोग कर रहे थे जिन्हें एक आम आदमी अकेले में भी जुबान पर लाने में हिचकिचाए।

पर फिर वह उनके साथ चलता रहा। वह उसे ले गए उस अखबार के दफ्तर में, जो अपने निर्भीक प्रकाशन के लिए प्रतिबद्ध था। उसका कहना था कि जितना निष्पक्ष समाचार वह छापता है, उतने ही निष्पक्ष रूप से रचनाओं का चयन करता व छापता है, कि वह जुझारू रुझान रखता है, कि वह नए लोगों की चेतना जगाने में सदा से अग्रणी रहा है ....

अमित भैया ने वहां जिनसे परिचय कराया वह वहां के कर्ताधर्ता थे—नाटे-मोटे से व्यक्ति जिनकी नाक बोलने के दौरान बिचकती रहती थी। यही नहीं, वह एक अच्छे कवि भी थे और उनकी पहली ही कविता-पुस्तक 'जलती बाती' पुरस्कृत हो चुकी थी। वह भी उसी अनिल भैया और अमित भैया के ग्रुप के ही थे क्योंकि उसने देखा कि अमित

भैया उनसे बड़ी बेतकल्लुफी से बातें कर रहे थे। अमित भैया ने उसका परिचय अनिल के भाई के रूप में करवाते हुए पीछे से जोड़ा कि यह भी लिखता-पढ़ता है और दिल्ली में तकदीर आजमाने आया है, तो उसे अच्छा नहीं लगा पर यह सोचकर चुप रहा कि आखिर को वह छपेगा तो अपनी ही प्रतिभा के जरिए। भैया के नाम पर तो वह एकाध बार छप जाएगा, पर निरंतरता तो उसकी अपनी काबलियत से ही आएगी। भुवनेश जी ने बड़ी तत्परता से हाथ मिलाया, चाय पिलवाई और कहा कि वह दूसरे दिन आए तो वह उसकी योजनाओं पर विचार भी करेंगे और अपनी योजनाएं भी बताएंगे।

इसलिए वह उनसे मिलकर बहुत खुश था। उसे अपनी निराशा की गहराती धुंध छंटती दिखाई दी। भुवनेश जी से दुबारा मिलने तक उसने अपने आप को स्थिर और मजबूत किया। अपनी रचनाओं पर दस बार गौर किया; रचनाओं को कई-कई बार संशोधित किया। खुद को वह तितली-सा रंगीन और फूल-सा हल्का अनुभव कर रहा था।

दिल्ली आकर उसने भी खादी का कुर्ता खरीद लिया था जिसे जींस के ऊपर पहनने लगा था। एक शांतिनिकेतनी झोला लिया था और पैरों में कोल्हापुरी चप्पल डाल ली थी। अब वह भी एक अलग किस्म की चीज दिखने लगा था। मंडी हाउस के चक्कर लगाने भी उसने शुरू कर दिए थे। ये सब गुर उसे अमित भैया ने बताए थे, "पहला इंप्रेशन तो आपसे ही बनता है कि आप साले कैसे लगते हो देखने में, — चुगद के नाना या..." अमित भैया को कुछ ऐसे शब्दों से शायद बहुत प्यार था जिन्हें सुनकर वह सिकुड़ जाता और उसकी हडीली काया में खादी का कुर्ता और भी ढीला होकर झूलने लगता।

दूसरी बार वह भुवनेश जी से मिला। उन्होंने उसकी रचनाएं देखीं। दो-एक रख लीं, अपनी योजना के अनुसार उसे कुछ विषय दिए। वह निरभ्र आकाश में चमकते सूर्य-सा प्रसन्न और संतुष्ट हुआ। उसे पहले वाले लोग जब याद आए तो सिर को झटका दे दिया। उसे लगा कि नहीं, दुनिया में सब उन्हीं के जैसे नहीं हैं।

वह जुट गया उनके दिए विषयों पर लेख तैयार करने में। रचनाओं को लिखता, काटता-छांटता। वह कुछ ऐसी चीज तैयार करना चाहता था जिससे केवल वह ही खुश न हों अपितु जब वह पाठक वर्ग तक पहुंचे तो वह भी सोचने को विवश हो जाए, क्योंकि आखिर वह लिख तो पाठकों के लिए ही रहा है न!

एक रचना लेकर जब वह भुवनेश जी के पास गया तो वहां पहले से ही एक नामी साहित्यकार बैठे थे। गरमागरम कॉफी का दौर चल रहा था। उन्होंने औपचारिकतावश पूछा और उसने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया। वे दोनों इधर-उधर की बातों में तल्लीन रहे। अचानक भुवनेश जी को ख्याल आया और वह उसका परिचय करवाते हुए बोले, "ये रीतेश हैं, अनिल जी के भाई। और ये काशी पांडे जी हैं।" वह न केवल उनके बारे में सुन ही चुका था, अपितु उनकी रचनाएं पढ़ भी चुका था और अखबारों में, पत्रिकाओं में पढ़ता रहता था। भुवनेश जी ने उससे परिचय कराया तो मन ही मन उसने आभार प्रकट किया।

उसने भुवनेश जी को रचना देते हुए कहा कि वह इसे देख लें तो वह आगे और भी लिखे, पर उन्होंने हिम्मत दिलाई, "अरे देखना क्या? आप बाकी चीजें भी तैयार करके ले आइए। उन सभी को देखने के बाद मैं आपको नियमित रूप से काम देता रहूंगा।" काशी जी ने भी उसे अपने दफ्तर में आने की दावत दी। वह गद्‌गद हो उठा।

फिर तो काशी जी ने भी उसे काम दिया। वह मेहनत करता रहा। एक-एक करके रचनाएं दोनों के पास जमा होने लगीं। अब वह उनके छपने के इंतजार में था। यह इंतजार उसे ऐसा लग रहा था जैसे खून-पसीना एक करके पाली हुई अपनी संतान को बहुत बड़ा आदमी बनते देख रहा हो। पर जैसे उस संतान से मां-बाप की जो अपेक्षाएं होती हैं वैसी ही अपेक्षा अब उसकी भी इन रचनाओं से जुड़ गई थी। और वे अपेक्षाएं थीं उसकी रोटी, एक खद्‌दर का कुर्ता, एक छत वाला घर। रचनाओं के प्रति ईमानदार रहने के लिए उसने तय कर लिया था कि वह नौकरी नहीं करेगा। अब तक उसकी सामान्य दोस्ती एक-दो लोगों से हो चुकी थी और उन्होंने उसे नौकरी करने की सलाह दी थी। एक ने गारंटी भी दे दी नौकरी दिलवाने की। पर उसने अपना इरादा साफ-साफ जाहिर कर दिया कि नौकरी करने से वह गुलाम हो जाएगा। वह तो निर्बंध रूप से लिखना चाहता है। दोस्त हंस दिए, "अरे, इस पर तो राइटर का भूत सवार है।" नौकरी दिलवाने की पेशकश करने वाले ने कहा था, "बेचारा! नया-नया आया है। कर लेने दे इसे अपना शौक पूरा। फिर तो सिर के बल दौड़े आएंगे सरकार मेरे।"

वह दो-तीन दिन छोड़कर दोनों के पास जाने लगा। कभी तो भुवनेश जी किसी फेस्टिवल विशेष में उलझे होते, कभी किसी चर्चित व्यक्ति की मृत्यु पर उनसे संबंधित विशेष अंक निकालते होते तो कभी कुछ और। वह कहते, "आप घबराइए नहीं। आपकी रचनाएं कंपोज हो चुकी हैं। बस अगले अंक में आ जाएंगी।"

काशी जी कभी रूस तो कभी हंगरी तो कभी जापान की कार्यालयीन यात्रा पर होते। एकाध बार मिले तो कहा, "अभी इन कामों.....उन कामों में इतना फंसा हुआ था कि आपकी चीजें देखने का मौका ही नहीं मिला। आप अमुक दिन आ जाएं। उस समय मैं जरूर बता दूंगा।" वह उस समय जाता तो पता चलता कि वह लखनऊ या ग्वालियर या भोपाल की यात्रा पर गए हुए हैं। बड़ी मुश्किल से एक बार भेंट हुई तो उन्होंने कहा— "अब ऐसा है कि रचनाओं पर अंतिम निर्णय तो संपादक द्वारा ही लिया जाता है (जबकि अपने पन्ने वह ही देखते थे, ऐसा बाद में उसे किसी ने बताया था) मैंने उनके पास भेजे हैं। देखिए, क्या होता है।".

अनिर्णय की स्थिति और हताश मन लिए वह डेरे पर पहुचंता जहां उसके साथी उसकी राह देख रहे होते। उसके चेहरे पर निराशा की स्याही पुती देख सभी उसकी हालत समझ जाते। नौकरी दिलाने वाला कहता, "अरे ओ लेखक के बच्चे! तेरे लिखने से यह समाज और हिंदुस्तान नहीं बदलने का! तू भूखा मर भी जाएगा तो दुनिया का क्या बिगड़ेगा! कोई एक बूंद आंसू भी तेरे लिए गिराना नहीं चाहेगा। जिस साहित्य-वाहित्य की बात तू कर रहा है, उससे क्या बदलाव आ जाएगा? बोल तो? अपने सिर का भूत उतार। नौकरी पकड़ और दाल-रोटी खाकर जीवन गुजार। हमारी-तुम्हारी इससे ज्यादा कुछ करने की औकात ही नहीं है। यहां सभी पंजे वाले बिल्ले घूमते हैं। किनसे लड़ेगा तू? छोड़ यह सब और चल कल तू मेरे साथ।"

भुवनेश जी के आश्वासन पर वह अगले अंक की प्रतीक्षा बड़ी बेचैनी से करता। उनका आश्वासन द्रौपदी का चीर हो गया। इस बी उन्होंने उसे कहानी की एक पुस्तक दी समीक्षा के लिए। उसके डूबते मन ने तिनका पकड़ाया, "उनकी भी अपनी मजबूरियां होंगी, जिसकी वजह से देर हो रही है। वह जरूर छापेंगे। नहीं तो तुम्हें किताब देते ही क्यों?"

इस बीच अमित भैया ने एक कहानी लिखी। उन्होंने कहा, "मेरी कहानी छपे न छपे। कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं उसे चार-पांच प्रतियों में टाइप करवाकर चार-पांच लोगों में बांट देता हूं। वे ही क्रमवार कहानियां पढ़ते हैं, एक-दूसरे को देते हैं और उस पर फिर चर्चा करते हैं और तब एक दिन बहस हो जाती है कहानी पर। इतना सब हो जाने के बाद छपने की जरूरत ही कहां रह जाती है! और....."

"और पाठकवर्ग भैया? जो छपने पर ही

आपकी कहानियां पढ़ पाएंगे, उन तक कैसे पहुंचेगी आपकी कहानी?"

"अरे पाठकों के लिए कहीं कहानी होती है, भला? वे साले तो चाय का कप पीते हुए पढ़ेंगे और चाय का कप रखते हुए भूल जाएंगे। कहानी या रचना पर बहस तो ये लोग ही करते हैं, ये ही जिंदा रखते हैं उसे और जो छपने से पहले ही चर्चित हो जाए, उसके छपने की तो गारंटी हो ही जाती है।" और अगले हफ्ते अमित भैया की कहानी भुवनेश जी के अखबार में छप गई। उसे लग गया कि साहित्य आज कुछ खास लोगों की मुट्ठी में आ गया है। वे ही जिसे चाहें उछालें, जिसे चाहें गिरा दें। अमित भैया की कहानी छपने से पहले वह काशी जी से मिला था। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, "अमित ने एक कहानी लिखी है, काफी अच्छी है!" उसने कहा कि अभी उसने पढ़ी नहीं है, पर छपने पर तो पढ़ ही लेगा। अपनी रचनाओं के बाबत पूछने पर कहने लगे, "वो ..... ऐसा है कि वे सब अभी संपादक जी के पास ही हैं, वहां से लौटकर अभी आई नहीं हैं।" उसे लगा कि वह संपादक के कंधे पर बंदूक रखकर खुद गोली दाग रहे हैं – धांय! धांय! उसके परखचे उड़ रहे हैं और वह उन उड़े हुए अंगों को समेटकर गठरी में बांधकर भाग रहा है।

वह भुवनेश जी से मिला। अमित भैया की कहानी पिछले ही अंक में छप चुकी थी। वह बोले, "आपने अमित की कहानी पढ़ी? काफी यथार्थ है उसमें; जब कि वह उस कहानी में कहानी नाम की चीज खोजते हुए पुल और चूहे में ही उलझकर रह गया था। उसने अपनी रचनाओं के बारे में पूछा। उसके स्वर में मुलायम-सा प्रतिरोध भी था, "मेरी रचनाओं के लिए तो आपको वक्त ही नहीं मिल पाता। आप तो तमाम विशेषांकों में ही उलझ कर रह जाते हैं। न जाने कब से पड़ी हुई हैं वे! मेरे कितने दिनों बाद अमित की कहानी आई और वह छप भी गई।"

वह मुस्कुराते रहे। फिर बोले, "वो ..... ध्यान से उतर गई थी बात। कोई बात नहीं, अगले अंक में तो आपकी एक रचना जरूर ही आएगी..... हां, हां, मैंने आपकी वह पुस्तक-समीक्षा पढ़ी। काफी अच्छी लिखी है आपने।"

इस बीच उसने अन्य अखबारों और पत्रिकाओं में भी दौड़ लगानी शुरू कर दी और अब एकाध जगह उसकी रचनाएं छपने भी लगी थीं, पर वे काफी नहीं थीं। नौकरी दिलाने वाला मित्र अभी भी उसे टोकता और चिढ़ाता। शुरू-शुरू में उत्साह में आकर वह उन सबों से दिन भर की घटनाएं बयान कर जाता था और भुवनेश जी की बात तो बड़े ठोस ढंग से बयान कर जाता, मित्र जानबूझकर अगला अंक ले आता और उसके आगे फैला देता, "ले बेटा, खा अपने भगवान के आश्वासन की खीर।" उसे लगता कि उसकी ठोस आवाज पोली हो गई है, अब तो डर के मारे वह बताता ही नहीं था। पर बाहर निकलकर किसी ऐसी जगह पर अखबार देखता जहां मित्र के आने की आशंका न रहती। पन्ने खोलते समय उसके हाथ कांपते रहते और हृदय की धड़कन बढ़ जाती जैसे अपनी ही चीज को ढूंढने वह किसी बेगाने के घर में घुस आया है।

उस दिन फिर वह मिला था काशी जी से जो हाल ही में भुवनेश्वर से होकर आए थे। उसने उनका हालचाल पूछते हुए समारोह के बारे में पूछा। अब तक दिल्ली में आए उसे डेढ़ वर्ष से अधिक हो चुके थे। और वह काफी कुछ यहां का मिजाज समझने लगा था। उसने निश्चयात्मक स्वर में अपनी रचनाओं के बाबत पूछा। काशी जी ने चौंककर नजरें उठाईं जैसे उसके स्वर को तोलना चाहते थे। फिर खिड़की के एक कोने पर लगे जाले पर अपनी नजरें टिकाते हुए बोले, "ऐसा है कि संपादक जी सहमत नहीं हुए, इसलिए..."

"कोई बात नहीं। ऐसा तो चलता ही रहता है। आप मेरी रचनाएं लौटा दें।" उसकी नजर भी उस जाले पर गई थी और झटके से उसने नजरें हटा ली थीं उस पर से।

"वो.....मैं एक-दो दिनों में दे दूंगा। अभी-अभी भुवनेश्वर से लौटा हूं न, इसलिए....."

पूरी बात सुने बगैर ही वह बाहर निकल आया था—इस यकीन के साथ कि रचनाएं उसे अब नहीं मिलेंगी। अब तक उसे जो काम मिले थे अन्य जगहों पर, तो वहां उसके काम की तारीफ हुई थी। इससे उसके अंदर का खोया आत्मविश्वास लौटने लगा था। घर लौटा तो उसने अपने नाम का एक लिफाफा देखा—भुवनेश जी ने उसकी रचनाएं डाक द्वारा लौटा दी थीं। वह आहत हो गया। उसे दुख पहुंचा—इस बात से नहीं कि उन्होंने उसकी रचनाएं लौटा दी थीं, बल्कि इस बात से कि उन्होंने अब तक उसे धोखे में रखा। उसने तय किया कि न तो अब से वह वहां जाएगा और न ही वहां के लिए काम करेगा। क्या फायदा काम करने से? उनकी फरमाइश पर लेख तैयार किया और उसे ही वापस कर दिया गया। इतनी मेहनत अगर वह अपनी किसी कहानी पर करता तो एक अच्छी कहानी तैयार हो जाती। भले ही वह न छपती, पर सृजन का संतोष तो होता।

अगले महीने तक उसकी अन्य रचनाएं भी डाक से लौट आई। अब उसे हंसी आ गई, साथ ही भुवनेश जी की दोहरी मानसिकता और कायरपन पर क्षोभ भी हुआ। अब तक उसने उनके अखबार को उनके अपने जाले के गिर्द ही घूमते पाया था। उसे हैरत हुई कि इतना अच्छा कवि जो सत्ता और व्यवस्था से विद्रोह और आम आदमी के शोषण के विरोध में आग उगलने का साहस दिखाता है, वह इतना कमजोर कैसे हो जाता है कि इतनी बार मिलने पर भी उसने यह नहीं स्वीकारा कि वह उसकी रचनाएं छाप नहीं रहा, छाप नहीं सकता और वापस कर देता। रचनाओं की सीधी-सीधी वापसी से उसे इतना दुख तो न पहुंचता।

तकरीबन छह माह बाद एक साहित्यिक समारोह में उसकी भेंट उनसे हुई। देखते ही बोले, "अरे आजकल तो आप बहुत लिख रहे हैं। हमारे यहां भी कभी-कभी आते रहिए।"

"और अस्वीकृत रचनाएं डाक द्वारा प्राप्त करते रहिए।" उसने जोड़ा तो वह हंस दिए। अब उससे न रहा गया। पूछ ही बैठा, " अच्छा भुवनेश जी, एक बात समझ में नहीं आई कि जब आपको मेरी रचनाएं छापनी ही नहीं थीं तो आपने इतने दिलासे क्यों दिए कि कंपोज की हुई है, कि अगले अंक में आएगी और यह और वह। उसके बाद भी मेरे हाथों में आप मेरी अस्वीकृत रचनाएं थमा देते तो भी मैं उसी समय समझ जाता कि आपके मठ में मेरे जैसों का कोई स्थान नहीं। मैं आपसे लड़ता तो नहीं ही, क्योंकि आपके पास बचाव के अनेक तीर हैं।"

भुवनेश जी ऑडिटोरियम के बाहरी द्वार पर खड़े मुस्कुराते रहे—गड़बड़ाते-से, जैसे उन्हें विश्वास ही न हो रहा हो कि कल का छोकरा उन्हें भी ऐसा कह सकता है। पर वह पहुंचे हुए संत की तरह मुस्कुराते रहे। कला और साहित्य का वह इलाका कारों की हैडलाइटों से चकचका रहा था और हार्नों की आवाजें अपने-अपने मालिक के वजूद को दर्शा रही थीं। भुवनेश जी हंसते हुए बोले, "अच्छा भई, फिर मिलेंगे।"

और वह? उसे लगा कि बचपन में फूलों के जो पत्ते डरावनी शक्लों में उसके पास आते थे, वे सब के सब फिर से उसके सामने आ रहे हैं। उसने एक का मुखौटा नोचा तो भुवनेश जी नजर आए, दूसरे में काशी जी, तीसरे में मासिक पत्रिका के संपादक, चौथे, पांचवें....और अब वह थक चुका था बुरी तरह से। उसे नौकरी दिलाने वाले अपने मित्र की याद हो आई। उसने शीघ्रता से माथे को झटका दिया और चौक पर आकर एक कड़क चाय का आर्डर दे दिया। ❑

धूल के बगूले अवरोहती हवा

आप पहचानते हैं न मधुमास को
यह मार्च/एप्रिल में फैला होता है
धूप की हथेली हड्डियों पर
आशीर्वाद-सा सेकती हैं ... नहीं,
हड्डियां ही नहीं मन की पर्तें भी
ऊष्मा से थिरकने लगती हैं

आपने पत्ते देखे हैं, हवा में उड़ते हुए
पीछे-पीछे धूल का बगूला
आपको हंसा देगा—जैसे केवल एक
काला धागा कमर पर बांधे हुए नंग-धड़ंग
बच्चा—अपने विनोद में दौड़ता हुआ ...

आपको उस बिंब तक आना ही है—
जहां तक—इस पुराने कागज पर
मेरी कलम फिसल रही है—माने
वही धूल का बगूला—जो एक साड़ी को
पीछे से थपेड़ रहा है ... एक गुंथी वेणी ...
काला—केश गुंफ ...

साप्ताहिक परिशिष्ट में
कूल्हे की हड्डियों पर कुछ छपा है
जो नारी-नितंबों को आकर्षक बनाता है
नहीं ... आप सीधे आइए ... वहां तक
मैंने इस बिंब को हवा के साथ
लहराते देखा है मुग्ध—किंतु यह
मुग्धा का चित्र नहीं ...

मैं इस गांव की शोभा को जानता हूं
इसने बहुत प्यार किया है, देह को
अपनी ही अंगुली से जी भर पिया है
प्यार में लड़का कौन है, यह बात
बहुत अनावश्यक है, अतः मैं इसे
विरह भी नहीं कहता, मैंने
इसके गांव को फूटती पगडंडी देखी है
वह मुझे बहुत ही साफ और सेंसुअल
क्यों लगी!

इसी बिंब की वजह से
इसने देह-रस लिया है, दिया है
जी भर,
यह धूल का बगूला तृप्ति में नहीं,
उन दिनों की स्मृति में उड़ रहा है
पत्तों के साथ
मधुमास में—आप एक विरहमुग्ध
युवती को अवश्य देखें
मैं चाहता हूं—
आप कविता से अवश्य जुड़ें—

बस में बैठे हों तो खिड़की से
गांव को जाती उस कच्ची सड़क को
देखना न भूलें—

एक नामपट्ट
आपको मुंह उठाकर देखेगा
और विषाद में झुककर ओझल हो जाएगा।
जब तक कि आप उसके दुख को समझें

बस की एकतान रफ्तारगी भी
उसी अकेले, पीछे छूट गए
नामपट्ट के विषाद को
दुहराती है ... अवरोह पर



मूल्यवत्ता और सामाजिक सरोकार का सवाल

संजीव श्रीवास्तव

धीरे-धीरे विचार की जगह खबरें ले चुकी थीं
और खबरों की जगह विज्ञापन,
यह माना जाने लगा था
कि विचार दो घंटे में पुस्तकालय से प्राप्त किए जा सकते हैं
और यह भी माना जाने लगा था
कि उनसे दूर रहना 'कॉस्ट इफेक्टिव' रहेगा।

(संजय चतुर्वेदी)

उपर्युक्त पंक्तियां हिंदी पत्रकारिता की वर्तमान दशा पर सटीक बैठती प्रतीत होती हैं। आज अचानक ऐसा लगने लगा है कि पत्रकारिता के बीच से विचार अनायास (कुछ हद तक सायास भी) ही कहीं गायब हो गए हैं। मानो जीवन में विचार जैसी चीज की आवश्यकता ही नहीं रही हो। चारों तरफ मची आपाधापी, मार-पीट, हत्या-बलात्कार, ग्लैमर-सैक्स और फैशन शो वाले इस युग में सनसनीखेज, चटखारेदार खबरें पाना ही पाठकों की एकमात्र लालसा रह गई है।

शायद आज के व्यावसायिक दिनों का अनुमान पुरानी पीढ़ी के लेखक-पत्रकारों ने बहुत पहले कर लिया था। तभी तो हिंदी के संपादकाचार्य कहे जाने वाले अपने समय के चर्चित पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 1925 के अपने एक भाषण में कहा था, "पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों और सुसंगठित कंपनियों के लिए ही संभव होगा। पत्र सर्वांग सुंदर होंगे। आकार बड़े होंगे। अच्छी छपाई होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी और मनोहारिणी शक्ति होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जाएगी। यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे।"

आखिर ऐसा क्यों हुआ? हमारा समाज तो पहले से अधिक आधुनिक है। हमारे चारों तरफ पहले के मुकाबले अधिक तकनीकीपरक सुविधाएं हैं। सूचनाएं त्वरित गति से प्राप्त होती हैं। छपाई सचमुच आकर्षक और सुसज्जित होने लगी है। लोग अधिक साक्षर हो गए हैं और जागरूक भी। फिर कैसे पत्रकारिता की मूल्यवत्ता और विश्वसनीयता गैर-सामाजिक चीज हो गई? विचार, संस्कृति और सामाजिक सरोकार हाशिए की चीज हो गए? कहा तो जाता है आजादी से पहले की पत्रकारिता उद्देश्यपूर्ण पत्रकारिता थी। समाज, राष्ट्र, आजादी, प्रतिबद्धता, संस्कृति, साहित्य इत्यादि के साथ घुली-मिली वह पत्रकारिता किसी तरह के व्यवसाय या अत्यधिक मुनाफे के आगे घुटने नहीं टेकती थी। इस पत्रकारिता को चलाने वाले एक तरफ आजादी के दीवाने थे तो दूसरी तरफ देश में परिवर्तन के भी कामी थे।

हिंदी की सभी स्तरीय पत्रिकाएं, एक के बाद एक बंद होती चली गई हैं। कोई भी ऐसी पत्रिका नहीं बची है जो सीधे बाजार से परिवार के बीच पहुंचती है। बच गए हैं केवल दैनिक पत्र। इन दैनिक पत्रों में भी हिंदी-अंग्रेजी का भेदभाव बड़ा भयावह दिखाई देता है। अखबार मालिक अंग्रेजी संस्करणों को तो बचाए रखता है मगर हिंदी संस्करणों को थोड़े घाटे पर भी तमाम बहानों के साथ बंद कर देता है। यह विडंबना ही है कि ये सारे सवाल जब किसी पत्रकार या अखबार मालिक से किए जाते हैं तब वे भी इसका जवाब वैसा ही देते हैं जैसा कि अक्सर व्यावसायिकता और सैक्स अपराध के आरोपों से बचने के लिए बंबइया फिल्म निर्माता दिया करते हैं। लेकिन इस सच्चाई से कैसे मुख मोड़ा जा सकता है कि जिस तरह व्यावसायिक फिल्मकर्मियों की तमाम दलीलों के बावजूद अच्छी फिल्में बनती रही हैं, उसी तरह हिंदी पत्रकारिता में विचारपरक लेखन-पठन की संभावना न रह गई हो, बात सरासर बेबुनियाद लगती है। यदि ऐसा होता तो लघुपत्रिका आंदोलन नहीं होता। लोग निजी प्रयत्नों से छोटी-छोटी पत्रिकाएं निकालते हैं। इसे निकालने में केवल आत्मसंतुष्टि या आत्मरति का ही भाव नहीं छुपा है बल्कि समाज में वैचारिक पहल को किसी तरह जिंदा रखने की यह संघर्षरत मुहिम है।

इन्हीं मुद्दों पर हमने दिल्ली में पत्रकारिता और साहित्य से जुड़े हुए कुछ कर्मियों से बातें की। इंदौर से प्रकाशित *नई दुनिया* दैनिक के दिल्ली ब्यूरो प्रमुख व विचारक रामशरण जोशी का कहना है, "पिछले दस वर्षों में जो बाजार संस्कृति का विकास हुआ है उससे केवल हिंदी पत्रकारिता ही नहीं बल्कि सभी भाषाओं की पत्रकारिता प्रभावित हुई है। यहां तक कि अंग्रेजी पत्रकारिता भी डगमगाई है। खासकर इमरजेंसी के बाद हमारे यहां हुए 'मार्केट फोर्सेस' के विस्फोट, फिर कंप्यूटर और फिर भूमंडलीकरण या उदारीकरण के जो विचार लाए गए, इन सबने पत्रकारिता को जड़ से हिला दिया और इसे भी बाजार की चीज बना दिया। तो स्वाभाविक है, बाजार में केवल अच्छा और चमक-दमक वाला 'माल' ही तो खरीदा जाता है।"

मगर यहां एक प्रश्न उठाना स्वाभाविक जान पड़ता है कि क्या पत्रकारिता को भी अंततः बाजारू माल ही समझा जाए। यह सही है कि अन्य बाजारू चीजों की भांति अखबार या पत्रिका भी एक उपभोक्ता वस्तु है मगर क्या अन्य बाजारू चीजों की भांति ही पत्रकारिता का भी उपयोग

किया जाता है कि खाया और छिलका फेंक दिया। जैसा कि साहित्यिक त्रैमासिक *समकालीन भारतीय साहित्य* के संपादक व कवि गिरधर राठी का मानना है कि—"पत्रकारिता का कितना भी व्यवसायीकरण हो जाए वह फिर भी जूता-चप्पल के उत्पादन से भिन्न किस्म का उत्पादन है। दरअसल पत्रकारिता का प्रतिबद्धता से जन्मजात रिश्ता है। यह सही है कि आज पत्रकारिता भी विकाऊ संस्कृति का एक हिस्सा है। मगर इसके दोषी स्वयं पत्रकार भी कम नहीं हैं। यदि वे आंखें मूंदकर मालिक, प्रकाशक, राजनेता, अफसर या अन्य वर्गों के आदेश और शर्तों को मान लेते हैं या फिर वे स्वयं मात्र व्यवसायी होकर पत्र-पत्रिकाएं निकालते हैं तो जाहिर है कि पत्रकारिता के वे सामाजिक और नैतिक मानदंड बरकरार नहीं रह सकते जो कि रहने चाहिएं।"

इसी संदर्भ में दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय हिंदी दैनिक *जनसत्ता* के रविवारी संस्करण के संपादक और कवि मंगलेश डबराल इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"चाहे अंग्रेजों की सत्ता रही हो या 1947 के बाद की हमारी सरकार—तमाम विरोधों के बावजूद पत्रकारिता की राजसत्ता से एक आलोचनात्मक या बौद्धिक दूरी हमेशा बनी रही। मगर इसमें हिंदी पत्रकारिता के साथ यह दुर्घटना हुई कि उसकी राजसत्ता या सत्ता की राजनीति से आलोचनात्मक दूरी कम हो गई। फलस्वरूप पत्रकारिता ज्यादातर सत्ताधारी पार्टियों या दूसरी पार्टियों की तरफ से दिए गए वक्तव्यों का प्रस्तुतीकरण भर रह गई। स्वभावतः इसके कारण एक बड़ी दुर्घटना हुई कि हमारी पत्रकारिता में समाज और मनुष्यों के दुखों, उम्मीदों या स्थितियों-नियतियों के जो समाचार पहले छपा करते थे वे अब नहीं आते। सामाजिक पत्रकारिता बिल्कुल हाशिए पर चली गई। वह अधिकांश सनसनीखेज और भंडाफोड़वादी हो गई। साथ ही वह राजनीति की वाहक न होकर, सत्ता और राजनीति पर केंद्रित हो गई।" लेकिन जहां तक विश्वसनीयता का सवाल है उस पर उनका कहना है—"यह तथ्यों के प्रति चाहे आंकड़े की शक्ल में हो या मानवीय यथार्थ या सत्य के रूप में, वह हमेशा जवाबदेह और निष्ठावान रही है। परंतु अब वह भी कम हो गई है।" इस संदर्भ में वह एक उदाहरण देते हैं—"जब अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिराई गई तब मरने वालों की गिनती होने से पहले ही वहां के एक दैनिक ने अपने संस्करण में इसकी संख्या पांच बताई। दूसरे संस्करण में संख्या बढ़ा दी गई। और फिर मुख्य संस्करण में यह संख्या पांच सौ हो गई। बिना किसी निश्चित जानकारी के। कुछ घंटों के भीतर ही मरने वालों की संख्या पांच से पांच सौ हो जाना एक भयावह चमत्कार और अकल्पनीय-सा लगता है। मगर यह सब हिंदी पत्रकारिता में संभव हो गया। जाहिर है कि एक छोटे-से अखबार में बैठा हुआ पत्रकार जो कि उस अखबार का मालिक भी हो सकता है—सनसनी फैलाने के लिए या अखबार की बिक्री बढ़ाने के लिए या जातीय या किसी धार्मिक उन्माद में तथ्यों-आंकड़ों के साथ इतना बड़ा खिलवाड़ कर सकता है। और उसे इस बात की जरा भी ग्लानि नहीं है कि वह किस तरह समाज में झूठ, अविश्वास, विद्वेष और अलगाव फैलाने का काम कर रहा है। पर इस पर भी तुर्रा यह कि वह पत्रकार अपने को बहुत बड़ा तोप समझता है। राजनीतिक सत्ता गिराने और उठाने का झूठा हौसला रखता है। मगर यह अहंकार और दंभ का भाव हिंदी पत्रकारिता के अंदर खुलेआम विचरण करता है।"

इसी विषय पर बंद साप्ताहिक *संडे मेल* के प्रधान संपादक रह चुके कन्हैयालाल नंदन का मानना है कि—"ऐसा नहीं है कि मूल्यवत्ता का क्षरण सिर्फ साहित्य और पत्रकारिता में ही हुआ हो, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक तमाम क्षेत्रों में इस तरह के क्षरण हो रहे हैं। यह सभी क्षेत्रों की चिंता का विषय है।" परंतु यह कैसे हो सकता है कि वह पत्रकारिता जो कि राजनीति, संस्कृति और समाज की व्यापक और निष्पक्ष चिंता करने का दावा करती है। जब वही मूल्यों से क्षरित हो जाए, तो उसकी अतिरिक्त चिंता न हो। पत्रकारिता को तो लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है। साथ ही पत्रकारिता पूरे समाज की अभिभावक भी तो होती है।

बहरहाल पत्रकारिता की यह दशा-दुर्दशा अब एकदम अस्पष्ट नहीं रही है। आंकड़ों व तथ्यों के प्रति तो पाठक अनाश्वस्त हुए ही हैं, साथ ही विचारों के प्रति भी आश्वस्त नहीं रहे हैं। इनमें भी वह वर्ग जो कि गंभीर व प्रतिबद्ध तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता की ओर विशेष आकर्षित रहे हैं, उन्हें तो इस दौर में और भी निराशा हाथ लग रही है। उनकी दृष्टि में हिंदी में एक भी ऐसी पत्रिका नहीं जो कि सर्वांगीण हो। किसी जमाने में *दिनमान, रविवार, सारिका, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान* जैसी पत्रिकाएं हुआ करती थीं, जिनके माध्यम से पारिवारिक मनोरंजन तो होता ही था, साथ ही वैचारिक खुराक की तलाश करने वालों को भी कुछ न कुछ मिल ही जाता था। कहा जाता है इनके माध्यम से पूरा हिंदी माहौल गरमाया रहा करता था। मगर वे दिन अब लद गए। पुरानी पीढ़ी या बीच की पीढ़ी के रचनाकारों को तो इस बौद्धिक माहौल में रहने का लाभ मिल चुका है मगर नई पीढ़ी इस अधिकार से वंचित ही रह रही है।

इसी पर विशेष चिंता करते हुए जब मैंने *साक्षात्कार* और *समकालीन भारतीय साहित्य* जैसी उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिकाओं के संस्थापक-संपादक रहे हिंदी के वरिष्ठ कथाकार स्व. शानी से पूछा था तो उन्होंने अपने जीवन के अंतिम माह में बीमार माथे पर हाथ फेरते हुए कहा था, "दरअसल यह दारिद्र्य हिंदी और उर्दू में ही ज्यादा है। दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं, जैसे बंगला, कन्नड़ या मलयालम आदि में ऐसा नहीं है।" उन्होंने आगे कहा था, "जो मलयाली हैं वे मुहम्मद बशीर का नाम जानते हैं, जो बंगाली हैं उन्होंने विमल मित्र को पढ़ा है मगर हिंदी वालों के साथ ऐसा नहीं है। अपनी भाषा और संस्कृति को बचाने के लिए हिंदी वालों में कोई चाह नहीं है। शायद यह इसलिए कि हिंदी तो सबकी भाषा है, इसीलिए यह किसी की भाषा नहीं है।" इसके साथ ही उन्होंने संपूर्ण पत्रकारिता पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "यह पत्रकारिता जिस ध्येय को लेकर चलती है, सबसे पहले उसी का गला घोंटती है। इसलिए, व्यावसायिक घरानों की पत्रकारिता से 'साहित्य' और 'विचार' जैसी चीजों के संबंध में कोई आशा नहीं रखनी चाहिए।"

स्व. शानी के उपर्युक्त कथन में एक खुली बहस की संभावना दिखाई देती है कि यह 'दारिद्र्य' हिंदी और उर्दू में ही क्यों है? जबकि यह सर्वविदित सच्चाई है कि अहिंदी भाषी लेखक जब तक हिंदी में अनूदित नहीं हो जाते, तब तक उनमें यह आत्मविश्वास नहीं जागता कि सारा हिंदुस्तान उन्हें जानता है। फिर हिंदी दारिद्र्य का शिकार कैसे हो सकती है? यही प्रश्न जब मैंने उन्हीं से पूछा था तो उन्होंने भी केवल इतना ही कहा था, "दरअसल मुझे भी इस पर बड़ा ताज्जुब होता है। जबकि सच्चाई का यह एक बहुत बड़ा पहलू है।" सचमुच हिंदी की यह विरोधाभासी स्थिति बड़ी चिंताजनक है। तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि कवि, समीक्षक अशोक वाजपेयी जो अपने लेखों और भाषणों में बार-बार यह कहा करते हैं कि हिंदीभाषी समाज हिंदी लेखकों की कद्र करना नहीं जानता, बिल्कुल सही है?

समकालीन हिंदी कविता के चर्चित कवि और प्रेमचंद संस्थान की पत्रिका *साखी* के संपादक केदारनाथ सिंह भी वर्तमान हिंदी पत्रकारिता के बीच से साहित्य और विचार पक्ष की लुप्तता पर विशेष चिंता प्रकट करते हैं। उनकी चिंता 'यह अभाव हम सबकी परेशानी का कारण है' तक पहुंची हुई है। वह *दिनमान* जैसी पत्रिका को इस दिशा में अच्छी पहल मानते हैं। मगर साथ ही यह कहने से नहीं चूकते कि "बाद में *दिनमान* की जो दुर्गति हुई, वह एक तरह की चेतावनी है हिंदी पाठकों के लिए। शायद यह अपने

अंदर देखने का समय है कि ऐसा क्यों है कि एक विचार प्रधान पत्रिका के लिए हिंदी में पाठक नहीं हैं। जबकि *माया* जैसी पत्रिका के लिए लाखों पाठक मिल सकते हैं। यह हिंदी जाति के चरित्र की किस गुत्थी पर इशारा करता है इस पर हम सबको गहराई से विचार करना चाहिए।"

हिंदी में इन परिस्थितियों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए, *रविवार* जैसी राजनीति प्रधान पत्रिका के संपादक एवं *नवभारत टाइम्स* के कार्यकारी संपादक रह चुके पत्रकार सुरेंद्र प्रताप सिंह बताते हैं, "एक तो हमारे यहां पत्रकारिता देरी से शुरू हुई। जो काम बाकी भाषाओं में काफी पहले हुआ वह हिंदी में काफी बाद में हो रहा है। दूसरा प्रमुख कारण है जो काम पहले पत्रिकाएं कर दिया करती थीं वही काम आज अखबार कर रहे हैं। भले ही 'क्वालिटी' और 'क्वांटिटी' में फर्क हो। तीसरा प्रमुख कारण है कि अब टी.वी. पर लोगों को सोलह से बीस चैनल देखने को मिल जाते हैं। ऐसे में अखबार या पत्रिका पढ़ने का समय किसी के पास नहीं रह गया है।"

लेकिन विडंबना यह है कि यह समस्या केवल हिंदी में ही क्यों है? क्या बंगाली या मलयाली समाज में इन आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रवेश नहीं हुआ है? या क्या हिंदी का समाज साहित्यिक सांस्कृतिक संस्कार से रहित हो गया है? इस पर सुरेंद्र प्रताप सिंह का कहना है, "दरअसल अतीत को गौरवान्वित करना हमारी पुरानी आदतों में शामिल है। जब *सरस्वती, सुधा, चांद* जैसी पत्रिकाएं बंद हुईं उस समय भी इसी तरह हल्ला मचाया गया। इसलिए मैं यह समझता हूं कि *दिनमान, सारिका* या *रविवार* जैसी पत्रिकाओं की भी उपयोगिता समाप्त हो गई, इसलिए वे बंद हो गईं।" इसके बावजूद वह कहते हैं, "मैं समझता हूं एक तरह की ऊर्जा अभी भी लोगों में बची हुई है।" इसके प्रमाण के तौर पर वह *समकालीन जनमत, पहल, हंस* तथा *समकालीन भारतीय साहित्य* जैसी पत्रिकाओं का नाम लेते हैं।

कुछ-कुछ ऐसे ही विचार जाने-माने आलोचक और स्तंभकार सुधीश पचौरी का भी है। पत्रिकाओं का अभाव उन्हें भी खलता जरूर है, मगर वर्तमान दैनिक पत्रों की भूमिका से वह अधिक आतंकित नहीं हैं। उनका मानना है आज दैनिक पत्रों का ही युग है। पहले जो काम *दिनमान* जैसी पत्रिका करती थी वही काम आज *जनसत्ता* जैसा अखबार कर रहा है। खासकर छः दिसंबर, 1992 के बाद *जनसत्ता* ने एक मिसाल कायम की है। वह आगे कहते हैं, "विचारों में काफी कमी जरूर आई है मगर सूचना का महत्व पहले से अधिक बढ़ा है। सूचना का महत्व बढ़ने से दलितों और पिछड़ी जातियों के कम पढ़े-लिखे लोगों में पहले से अधिक जागृति आई है। क्योंकि जो निरक्षर हैं या पिछड़े दलित हैं उन्हें उनकी भाषा में सही सूचना का मिल जाना आज के जमाने की एक क्रांति है।"

लेकिन किसी पत्रिका को छोड़ भी दें तो कोई अखबार समाज के सभी हिस्सों की खबरों को कितनी प्रमुखता से छापता है? अखबार मालिक या संपादक कैसा पाठक वर्ग बनाता है? *यूनीवार्ता* समाचार समिति के वरिष्ठ उप संपादक और युवा कवि विमल कुमार का मानना है कि "राजनीति, सेक्स और चोरी-डकैती की खबरों को अखबार वाले अधिक प्रमुखता से छापते हैं। इन खास खबरों के आगे किसी भी महत्वपूर्ण सामाजिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक घटना, खेल-कूद या विज्ञान के क्षेत्रों की नई उपलब्धियों तक को संक्षिप्त कर दिया जाता है। जबकि इन खबरों से समाज के विभिन्न वर्गों पर स्पर्द्धात्मक असर पड़ने की संभावना रहती है।" गिरधर राठी के शब्दों में भी, "यह वास्तविकता है कि न केवल अखबारों से बल्कि जनसंचार के तमाम माध्यमों से साहित्य लगभग बहिष्कृत है। न केवल इस अर्थ में कि साहित्य जगत की बड़ी और महत्वपूर्ण घटनाएं समाचार नहीं बन पातीं बल्कि इस अर्थ में भी कि पत्रकारिता के मूल माध्यम भाषा के प्रति भी भयानक लापरवाही देखी जा रही है।" ❑

जादुई झूठवाद

पृष्ठ 8 से आगे

महात्मा गांधी भारतीय जनता की अगाध क्षमता में विश्वास रखते हुए भी 'टिपिकल' भारतीय चरित्र से बहुत घबराते थे। इसलिए चेतावनी दी थी, "अमरीका की दौलत पाश्चात्य देशों का मापदंड बनी हुई है। ये उसी के समान धनाढ्य बनने की इच्छा रखने लगे हैं। मैंने अपने अनेक देशवासियों को कहते सुना है कि हम अमरीका की तरह धनवान तो होना पसंद करेंगे, परंतु उनके तरीके नहीं अपनाएंगे। मेरा विनम्र अनुरोध है कि इस तरह का प्रयास किया गया, तो वे असफल हुए बिना नहीं रहेंगे।" रेनिया मारिया रिल्के ने उसी दौर के अपने एक प्रसिद्ध खत (1950) में लिखा था, 'अमरीका हमारे यूरोप में निहायत छूछी, तुच्छ और कृत्रिम चीजें लेकर आया। इन चीजों ने हमारे जीवन को ढोंग में बदलकर हमें छला।' ये और ऐसे सभी दृष्टिकोण विकास-विरोधी या संरक्षणवादी कहकर किनारे रख दिए जा सकते हैं। लेकिन लोकतांत्रिक आंदोलनों की विगत विफलता के बाद, पश्चिमी समाज के यूटोपिया को ही भारत के लोग जिस कदर अपने जीवन का चमचमाता सत्य मानने लगे हैं, इस ढोंग को आखिरकार कोई कितनी देर तक झुठलाएगा!

हमारा समाज झूठ, कृत्रिमता और मिथ्या चेतनाओं की इतनी व्यापक गिरफ्त में कभी नहीं था। विकास की नई आर्थिक गतिविधियां, राजनीति, विज्ञान, धर्म, विदेशी मीडिया, बड़े सूचना घराने, टी.वी.—इनमें से सभी के मकसदों में गजब तालमेल और एकरूपता है। निराला की शैली में कहा जा सकता है, 'झूठ जिधर है उधर शक्ति'। जिसके हाथ में विज्ञापन की शक्ति है, सत्य उसी की मुट्ठी में है। विज्ञापन के मिथक धर्म के मिथकों से कम ताकतवर नहीं होते। फर्क केवल इतना है कि विज्ञापन के मिथक तात्कालिक, जल्दी बदल जाने वाले होते हैं, जबकि धर्म के मिथक टिकाऊ होते हैं। विज्ञापन के मिथक भव्य झूठ हैं, जबकि धर्म के मिथक दिव्य झूठ। ये जनमानस को इतना जकड़े रहते हैं कि उसके पास सोचने की अपनी ताकत, अपना विवेक नहीं बचता। लोगों को अपने पर भरोसा नहीं होता कि वे खुद कुछ सोच सकते हैं। वे परवश हो जाते हैं। झूठ उन्हें दबाए रखते हैं।

झूठ दिग्विजय पर निकला है। फिर भी हम सत्य पर चर्चा कर रहे हैं। जादुई झूठवाद से बोझिल समय में, जब यथार्थ का छिलका ही चरम यथार्थ है—झूठ ही चरम यथार्थ है, 'हाइपर रियलिटी' के इस युग में क्या हम सत्य की तलहटी तक पहुंच पाएंगे? आज सत्य की खोज से अधिक जरूरी है झूठ को खोजना। यथार्थ के छद्मवेश में वह जीवन के रेशे-रेशे में घुसा हुआ है। बहुरूपिया झूठ का सामना सत्य का सामना करने की तुलना में ज्यादा कठिन है, क्योंकि उसकी घुसपैठ मानवीय इच्छाओं और बुनियादी धारणाओं तक हो चुकी है।

इसलिए आज के काव्य का मुख्य लक्ष्य जीवन के सत्य का अन्वेषण नहीं, बल्कि इसके विराट ढोंग से मुठभेड़ है। ❑

व्यंग्य

घुमक्कड़ी

रविशंकर सिंह

घुमक्कड़ी और कड़की दोनों ही परस्पर विरोधी स्थितियां हैं। यकीन मानें, मेरे जीवन में घुमक्कड़ी और कड़की दोनों का अजीब तालमेल है। मेरी घुमक्कड़ी में कड़की कभी आड़े नहीं आती। वह इस प्रकार कि घुमक्कड़ी के लिए मैं प्रायः ऐसी जगहों का चुनाव करता हूं जिनके आसपास मेरे कालेज के दिनों के मित्र नौकरी कर रहे हों। ऐसा नहीं है कि मेरे मित्र कृष्णावतार हैं और मैं सुदामा की भूमिका में उनके पास पहुंचता हूं। सच तो यह है कि मेरे पहुंचने से मित्रों का जाने-अनजाने ढेर-सा उपकार हो जाता है। एक तो उन्हें अपनी रूटीन लाइफ से थोड़ा-सा बाहर झांकने का अवसर मिल जाता है और उनको लगे हाथों मेरे ऊपर अपनी नौकरी की धौंस जमाने का भी सुख मिलता है। मसलन मुझे अपना स्कूटर, फ्रिज, पलंग, अलमारी, टी.वी. आदि दिखाते समय उनका सीना गर्व से तनकर दोहरा हो जाता है। इसका जरूर उनके स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता होगा। एक बेजा बात है कि औसतन सभी मित्र अपनी पत्नी की बीमारियों का रोना रोते रहते हैं—"यार बीवी है कि कभी स्वस्थ होने का नाम ही नहीं लेती, कमाई की आधी रकम तो इन्हीं पर स्वाहा हो जाती है!"

सींखचों में कैद चौका-बर्तन से जूझती उनकी पत्नी को देखकर मुझे लगता है कि उन्हें इस हाल में देखकर सेहत खुद-ब-खुद फना हो जाती होगी। बोरियों में बंद सड़े प्याज की तरह बास छोड़ती मित्र दंपति की जिंदगी पर मुझे तरस तो आता है लेकिन उन पर टिप्पणी करने के बजाय मैं अपने बदजुबान मुंह पर ताला लगाए रखना बेहतर समझता हूं।

अच्छी खातिरदारी पाने के लिए मित्र-पत्नी का मेहरबान होना बेहद लाजमी है। औरतें ही बेहतर मेजबान हो सकती हैं। उन्हें खुश करने के मेरे पास कई नुस्खे हैं। सबसे ज्यादा आजमाया हुआ नुस्खा तो यह है कि मैं बच्चों के लिए टाफियां ले जाना कभी नहीं भूलता। मेरे मित्र भी इतने कमबख्त हैं कि वे अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ रहे अपने लाडलों से मुझे राइम सुनवाना नहीं भूलते—"बेटा अंकल को राइम सुनाओ तो ....." बोलकर मानो वे टेपरिकार्डर का बटन आन कर देते हैं और बच्चे बजने लगते हैं—*बा बा ब्लैक शीप, हैव यू एनी वूल*.....। उनकी कविता की पंक्तियों को समझे बिना मैं मुशायरे के अंदाज में अपनी गर्दन हिलाता रहता हूं। तब तक बच्चों की मां उन्हें एक्शन में गाने के लिए कोंचती हैं। बच्चा रुआंसा होकर एक्शन के साथ शुरू हो जाता है ..... *एस सर-एस सर थ्री बैग फुल*। जब उनके बच्चे स्कूली पोशाक में अपने वजन से दुगुने बस्ते का बोझ अपने कंधों पर लादकर स्कूल रिक्शा की प्रतीक्षा में खड़े हो जाते हैं तो मैं टा-टा, बाई-बाई की मुद्रा में हाथ हिलाते हुए घोषणा करता हूं कि "बस यही तो बच्चे हैं, जो आपकी इज्जत में चार चांद लगाएंगे, देश की शान बढ़ाएंगे वरना सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले घासलेटों को न तो अफसरी आती है न नेतागिरी।"

मेरी बातें सुनकर मित्र-पत्नी इस प्रकार खिल जाती हैं जैसे मैंने उन्हें घने कुहासे में धूप के आसार दिखाए हों या जेठ की दोपहरी में आइसक्रीम खिलाई हो। वे मुझ पर इस कदर मेरबान होती हैं कि ना-ना करने के बावजूद मेरी थाली में दो परांठे ज्यादा डाल देती हैं।

एक बात है जनाब कि ऐसी घुमक्कड़ी सबके बस का रोग नहीं है। इसके लिए अव्वल दर्जे की अक्लमंदी और बीन के सामने पगुराने वाली भैंस जैसी मोटी चमड़ी का होना अनिवार्य है। मेरे जैसे अयाचित मेहमान को लेकर कहीं-कहीं मित्र दंपति में कहा-सुनी भी हो जाती है। ऐसे नाजुक क्षणों में अपने कानों का एंटीना जरा दूसरी तरफ घुमा देना पड़ता है। मुझे महसूस होता है कि मुझ जैसे नामुराद के लिए ही भगवान कृष्ण ने दुख-सुख, मान-अपमान में स्थितप्रज्ञ रहने का संदेश दिया होगा। ऐसी स्थितप्रज्ञता मोटी खाल से आती है। यदि मेरी खाल भोथरी न होती तो नकचढ़ी मित्र-पत्नी का एक ही शब्दवाण मेरे जिस्म को छलनी न कर देता! मैं खुदा का तहेदिल से शुक्रगुजार हूं, जिन्होंने रहम करके मुझे मोटी खाल बख्शी है।

मोटी खाल की वजह से सफर में भी मुझे कभी दिक्कत नहीं होती। हमसफर कोई हसीना हो या मोटा आसामी, उन्हें मिनटों में पटा लेना मेरे बाएं हाथ का खेल है। सफर में सबसे पहले मैं शरीफाना अंदाज में उनकी बगल में बैठता हूं। वैसे मैं शक्ल-सूरत से भी शरीफ दीखता हूं। फिर मैं अपनी छठी इंद्रिय से हमसफर की रुचि का अंदाज लगाता हूं और अपनी औकात के अनुसार उनके सामने बीड़ी, मूंगफली या ऐसी की सस्ती चीजें अवश्य पेश करता हूं। वे हजरत या मोहतरमा बाकई शरीफ होते हैं, क्योंकि वे मेरी चीजों को हाथ भी नहीं लगाते लेकिन स्वयं सिगरेट, पान, थम्स उ या गाजर का हलवा ग्रहण करते समय वे मुझे पूछना नहीं भूलते। अब उनके स्नेहोपहार को ठुकराना मुझसे संभव नहीं होता।

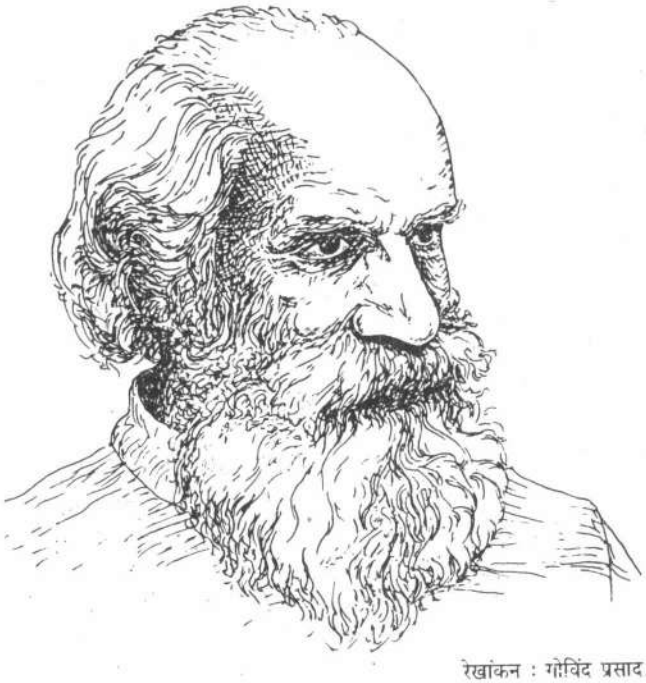
आपको एक राज की बात बताऊं, मेरे नौकरीपेशा मित्र भी कम मोटी खाल वाले नहीं हैं। उनकी मोटी खाल का ही कमाल है कि वे आफिसों में जी लेते हैं, कविता की भाषा में यों कहें, अगस्त्य की भांति पीड़ाओं का समंदर पी लेते हैं। जिस देश में तीन रिक्तियों के लिए तेरह लाख आवेदन आते हों, वहां लोग थोड़ी भी ना-नुकर का अंजाम भली-भांति जानते हैं। मुझमें और उनमें मौलिक अंतर महज इतना है कि मेरी खाल खुदा की इनायत है और उनकी खाल गरीबी का दुष्परिणाम। आप मेरे नौकरीपेशा मित्रों की तोंद की गोलाई और गालों की लुनाई देखकर मत भरमाइए। वे अपने अधिकारियों के सामंती प्यार के अंदाज से दुखी होकर अक्सर बंगला लोकगीत की एक कड़ी गुनगुनाते हैं—"पथ जेते-जेते जदि देखा हय, बंधु रे! बोले दियो, ए देशे, एखनो रात काटे नी।"

पृष्ठ 56 पर जारी

"मेरा काव्य गुरु अनुपस्थित तुलसीदास ही है"

त्रिलोचन शास्त्री से **अनिल त्रिपाठी** *की बातचीत के कुछ अंश*

प्रश्न : आपको पहली बार यह अहसास कब हुआ कि आप कविताएं लिख लेते हैं? कैसे कविताओं की ओर आकृष्ट हुए? आपको कब लगा कि इनका साहित्यिक महत्व है—जुड़ाव के स्तर पर प्रथम रचनाकार कौन था?



रेखांकन : गोविंद प्रसाद

उत्तर : साहित्यिक महत्व की बात जो कही आपने, वह आज भी मेरे अनुभव से बाहर है। केवल अपने सुख के लिए लिखता था—आज भी वही हाल है। साहित्यिक महत्व है या नहीं, इसका निर्णायक मैं नहीं हो सकता हूं। यह जरूर है कि 'लय' मेरी पकड़ में आ गई थी—बचपन में ही। ..... और उसी 'लय' ने कुछ जोड़ना-जाड़ना सिखा दिया था। मैं कुछ जोड़-जाड़ लेता हूं, यह बोध मुझे अपने अनुभव से हुआ, जब मुझसे कहा गया कि यह तुमने बनाया। यह तुमने जोड़ा है, तुम्हें अपना नाम देना चाहिए।

मैं अपना नाम, जो गांव में चलता था—वासुदेव सिंह, वह दे नहीं सकता था, वह बड़ा था। मैं बिना नाम दिए बहुत-से चौताल कह गया और उसको मैं कहने लगा कि यह मैंने जोड़कर बनाया है।

तुलसीदास जी के बारे में जानना चाहता हूं। आप उनसे कब प्रभावित हुए। मुझे लगता है कि तुलसीदास लगातार आपके रचनाकार को प्रभावित कर रहे हैं—व्यवहार में भी :

तुलसी बाबा, भाषा मैंने तुमसे सीखी
मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो।

बहुत बचपन से ही। मेरे पिता *रामचरितमानस* पूजा में पढ़ते थे और मुझे पास में बैठा लेते थे। लय आदि की जो पकड़ आई है वह बार-बार सुनने से, कानों पर जोर देने से, ध्यान देने से। तुलसीदास की और भी किताबें मैंने पढ़ीं और अपने आनंद के लिए पढ़ीं। उनकी कविताएं बिना उनकी उपस्थिति के मेरे मन पर इस कदर छाईं कि मेरा काव्य गुरु अगर कोई है तो अनुपस्थित तुलसीदास है। बाकी साहित्यकारों से परिचय बहुत बाद में हुआ।

आपके पहले संग्रह *धरती* की कविताओं का रचना काल संग्रह में नहीं दिया गया है। लेकिन ऐसा लगता है, छायावाद के अंतिम समय, प्रगतिशील आंदोलन एवं प्रयोगवाद के उत्थान के समय ये कविताएं लिखी गई हैं। आप अपनी कविताओं को छायावाद एवं कलावाद से बचाते प्रतीत होते हैं। यह कैसे संभव हुआ?

गांव में रहने के कारण लोक-जीवन मेरी पकड़ में आया। जो लोक-जीवन जिएगा, लोक में समझ आने वाली भाषा भी पकड़ेगा। इसी कारण रचना में वह प्रभाव आया। 16 साल की उम्र में यह चेतना आई कि कोई बात कविता कैसे बनती है? और कविता में कोई बात तेजस्वी होती है या मामूली बात में तेज पकड़ती है। ..... याद रखिए, कविता मेले का ऊंट नहीं है। जो भाषा हम बोलते हैं, उसी भाषा से हम इशारों का काम लेते हैं—इशारों का काम। इसलिए संगीत की जो मोटी किताब है—उसमें लिखा गया है—*यानि वाक्येषु न ब्रूयात, तानि गीतेनं* .....। जैसे आप किसी युवती को प्यार करते हैं पर उससे खुलकर नहीं कह पाते कि मैं तुम्हें प्यार करता हूं। यह प्यार वैयक्तिक है। प्यार में बहुत-सी बातें खुलकर नहीं आतीं।

आप प्यार को 'वैयक्तिक' कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि प्यार निर्वैयक्तिक भी होता है।

जब प्यार निर्वैयक्तिक होगा तो आप हितचिंतक या हितैषी बनेंगे। आप नेता होने का गुण रख रहे हैं। निर्वैयक्तिक माने व्यक्तित्व का अभाव नहीं। व्यक्ति रहेगा लेकिन वह अनेक व्यक्तियों से अलग नहीं होगा। जब कोई अस्वस्थ होगा तो आप चिंतित होंगे, कुछ करेंगे या करना चाहेंगे। और करुणा उस दया को कहते हैं जिसमें आप कुछ करें। करुणा माने दया नहीं। अवध की कहावत है जो हल्की है—कह रहा हूं—'एक तो मोर सिलहिया नांव, दूसरे दहिजरा गोड़े फाटि परा।' (एक तो मेरा नाम ही शीला है—दूसरे वह मेरे पैरों पर पड़ गया। .....) दो सखियों की बातचीत है। एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि उसने मिलने के लिए बुलाया है और मेरे पैरों पड़ गया है। तो दूसरी सखी कहती है—मत जाना। तो पहली कहती है यह कैसे संभव है? ..... जाना होगा। (जाइके होए)। गंवार भी तो प्यार करता है जबकि वह कविता पसंद नहीं करता। उसके लिए शरीर धर्म है। पूरी चेतना से वह कवि का जीवन जी रहा है। लेकिन कवि जब कविता करता है तब यह चेतना काव्य के रूप में आ जाती है। इससे एक तटस्थता भी आई है। बिना तटस्थ हुए प्रेम पर कविता नहीं लिखी जा सकती है। जो लिखेंगे वे भुक्तिवादी हो जाएंगे।

हिंदी में ग़ज़ल लेखन-परंपरा व्यापक स्तर पर स्वीकृत नहीं हो रही है जबकि भारतेंदु से लेकर शमशेर एवं आप तक ने ग़ज़लें लिखी हैं, *गुलाब और बुलबुल* आपका ग़ज़ल संग्रह ही है।

अरबी में ग़ज़ल लिखी जाने लगी 9वीं सदी से। विषय 'इश्क' होता था। अरबी भाषा जहां पढ़ी-पढ़ाई जाने लगी वहां लोग ग़ज़ल लिखने लगे। अरबी ग़ज़ल का असर फारसी पर पड़ा। पहले अरबी का प्रभाव फारसी पर नहीं था। पाबंदियां फारसी वालों ने अरब वालों से लीं, लेकिन मिजाज उनका अपना था। फिर बदलती हुई परिस्थितियों के कारण ग़ज़ल फारसी में मकबूल हुई। आपके यहां वह नई है, क्योंकि आपके यहां उसकी परंपरा नहीं है और ग़ज़ल आपके यहां 75 साल से लिखी जा रही है। भारतेंदु ने जो ग़ज़लें लिखी हैं उसके लिए उन्होंने 'नाम' अलग रखा। वहां उर्दू जमीन पर हिंदी भाषा का उपयोग है। यह किताब पहले उर्दू लिपि में छपी थी—जिससे यह किताब सबके हाथ में नहीं पड़ी। बाद में मृत्यु के पूर्व हिंदी लिपि में 350-400 पेज में उन्होंने छपाई थी। बहुत-से कवि आपके यहां हैं जिन्होंने बराबर ग़ज़लें लिखी हैं, उर्दू वाले फार्म में और जबान तथा मुहावरे में देखिए तो वे उर्दू से अलग नहीं हैं और जो उनको (भारतेंदु की ग़ज़लों को) कहे कि घटिया हैं तो उसका दिमाग ही सड़ा होगा। शमशेर की जो ग़ज़लें हैं वे बहुत स्टैंडर्ड उर्दू में नहीं हैं :

जहां में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है
तुम्हारी चोटें होनी हैं, अपना सीना होना है।

यह उर्दू का मुहावरा नहीं है। लेकिन उर्दू में यही लिखा है। बंबई में इस तरह का वाक्य बोला जाता है—यह बंबइया हिंदी है—लेकिन यह जब तक आप कहेंगे नहीं कि मैंने बंबइया हिंदी में लाइनें लिखी हैं तब तक कोई मानेगा कैसे? जानेगा कैसे? सवाल यह है कि हिंदी में जो ग़ज़ल लिखी जाएगी—चूंकि हिंदी में परंपरा नहीं है, इसलिए हिंदी में जो शेर आएंगे उनको आप उर्दू पाबंदियों से क्यों देखें? यह नई है।

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन पर आप जोर देते हैं तथा अच्छी रचना के लिए संस्कृत साहित्य का अध्ययन जरूरी बताते हैं। लेकिन आज खासकर युवा वर्ग संस्कृत साहित्य से उन अर्थों में नहीं जुड़ा है जिन स्तरों पर पुरानी पीढ़ी के लोग। क्या आज की रचनाएं कमजोर हैं?

मैं कहता हूं कि संस्कृत इतनी आधुनिक है कि बारहवीं शती का संस्कृत कवि, आरण्यकों के जीवन एवं अनुभवों पर श्लोक लिख गया है। हिंदी में आज भी एक कवि ऐसा नहीं है जिसने आदिवासियों पर कुछ लिखा हो। कोई नहीं है, न मशहूर और न गैर मशहूर।

हिंदी में अनुकरण बहुत है। यह कहा जाता है कि जो आज हिंदी साहित्य में हो रहा है वह पश्चिमी साहित्य में पहले ही हो चुका है?

एक बार मुझसे एक अमरीकी कवि ने कहा कि आप लोग कबीर जैसा क्यों नहीं लिखते तो मैंने कहा कि पहचान लिए जाएंगे। कबीर हमारे यहां के प्राचीनतम हैं और कबीर पढ़े-पढ़ाए जाते हैं। फिर परिस्थितियां बदल गई हैं—आपके यहां कबीर का अनुकरण करने वाले लोग माडर्न हैं लेकिन यहां नहीं। उसने कहा कि—फिर आप सानेट क्यों लिखते हैं यह तो ओल्ड फार्म है। मैंने कहा कि—यह अंग्रेजी के लिए पुराना है लेकिन हिंदी के लिए नया है क्योंकि हमारे यहां इसकी कोई परंपरा नहीं है।

आलोचना पर भी इसका (अनुकरण) असर खूब है। नामवर सिंह ने बाबा की 'मंत्र' कविता को 'पोस्टमाडर्निज्म' की कविता एवं मैनेजर पांडेय ने उदय प्रकाश की कहानी 'और अंत में प्रार्थना' को 'पोस्ट माडर्निज्म' की कहानी कहा है अपने एक भाषण के दौरान, जबकि प्रगतिशीलता एवं मार्क्सवाद का विरोध मिलता है 'पोस्टमाडर्निज्म' में।

यह 'पोस्टमार्टम' कलावादी दृष्टि से ही किया जा सकता है।

आपने अब तक के अपने लेखन काल एवं जीवन काल में किसी संगठन का पद नहीं संभाला, अब जबकि 'जन संस्कृति मंच' के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं तब क्या आपका रचनाकार संगठन की प्रतिबद्धता से नहीं प्रभावित होगा?

मेरी प्रतिबद्धता भारत के प्रति है। भारत के प्रति जो प्रतिबद्ध हो और सक्रिय हो, उसका साथ दूंगा।

यह प्रश्न नहीं बल्कि एक जिज्ञासा है। रेणु जी ने लिखा है कि त्रिलोचन को देखते ही हर बार मेरे मन के बोर्ड पर एक अगणितक, असाहित्यिक, तथा अवैज्ञानिक प्रश्न अपने आप लिख जाता है—वह कौन-सी चीज है जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर शमशेर हो जाता है और घटा देने पर नागार्जुन .....? वह कौन-सी चीज है? कुछ क्लू दीजिए?

इसका जवाब लेखक उपलब्ध होता तो उसी से पूछना था। बाकी जो लेखक पर अधिकार से बोल रहा हो, उससे पूछना चाहिए। हालांकि मैं रेणु का बहुत प्रशंसक हूं, जब वह पढ़ रहे थे तब से परिचय था। वह बी.एच.यू. (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय) के छात्र थे। ❑

दो ग़ज़लें : शरद सिंह

नन्ही बच्ची खेल रही है

सूखी पत्ती पैरों से दब, कुछ-ना-कुछ तो बोलेगी।
दबी जिंदगी का हर पहलू, धीरे-धीरे खोलेगी।

बूढ़ी सब्जी वाली को है, अपने कुनबे की चिंता
सब्जी लेकर आएगी जब, तिरछा करके तोलेगी।

नन्ही बच्ची खेल रही है, आंगन में 'खिपड़ी-गद्दा'
हार गई गर, सबके आगे खुलकर, जी भर रो लेगी।

जिसको घर से बेघर करके, टूटा छप्पर भूल गया
वह तो एक भिखारिन ठहरी, फुटपाथों पर सो लेगी।

एक पुराना फिल्मी गाना, होठों पर आ जाए तो
यादों की प्यारी शहजादी, आंखों में भी डोलेगी।

नाम लिखोगे यदि उंगली से, बूंदों वाली खिड़की पर
पानी की बौछार उसे तो, पल भर ही में धो लेगी।

अनुभव की बेरी को थामे, बढ़ती है दिन-रात यहां
कदली की वह नाजुक पत्ती, कांटा नया चुभो लेगी।

इतनी ज्यादा दुखी दिखाई देती है, चिट्ठी पढ़कर
ऐसा लगता है वह जाकर, तकिया अभी भिगो लेगी।

तोड़ रही है झटके देकर, 'बोगनबिलिया' की बेलें
'शरद' हवा की ऐसी हरकत, कोमल हृदय करो लेगी।

सोच जाने कहां भटकती है

जिंदगी जब कहीं उलझती है।
सोच जाने कहां भटकती है।

एक चिड़िया सुबह-सवेरे से
देह के रूप में फड़कती है।

उलझनों के विराट सूरज में
छांह भी छांह को तरसती है।

फिर प्रवंचित हुए घने बादल
बूंद तेजाब-सी बरसती है।

उम्र के बोझ से दबी लड़की
बांह में सिर छुपा सिसकती है।

हो गईं तार-तार जब रातें
भोर भयभीत हो उमगती है।

फूल मसले हुए जहां देखें
हर नजर फिर वहां अटकती है।

है 'पिकासो' के चित्र की रेखा
जो हथेली से हो गुजरती है।

ताकती हैं डरी हुई आंखें
बाज-सी आंधियां झपटती हैं।

आइना देखकर 'शरद' उसकी
देर तक आत्मा झुलसती है।

ग़ज़ल : चांद शेरी

खुले आसमां का हवा का परिंदा।
था बेचैन दिल में वफा का परिंदा।

गरीबों के नंगे बदन ढांपने को
कभी आएगा वो रिदा का परिंदा।

इसी आस में कब से है प्यासी दुनिया
घटा ले के आए दुआ का परिंदा।

रचाए दुल्हन के भी ये हाथ किसने
ये कौन आया बनकर हिना का परिंदा।

करे साया बरकत का हम पर भी आकर
हुमा जैसा कोई खुदा का परिंदा।

उड़ेगा हमें ख्वाबे-रंगीं दिखाकर
न हाथ आएगा ये फना का परिंदा।

उड़ानें भी 'शेरी' न इतनी भरो तुम
न ले जाए इक दिन कजा का परिंदा।

साधारण की असाधारणता

त्रिलोचन पर आलोचकों का ध्यान देर से गया लेकिन उसके बाद वह जिस तेजी से केंद्र में आए उससे पिछली उपेक्षा की जैसे क्षतिपूर्ति हो गई। **त्रिलोचन के बारे में** *पर* **राजकुमार सैनी।**

समकालीन हिंदी कविता के अवधूत, औघड़ कवि त्रिलोचन जिन्हें फणीश्वर नाथ रेणु ने 'कविराहा बाबा जी' के प्रतिरूप में देखा और शब्दयोगी कह कर पुकारा, नागार्जुन ने 'किंवदंती पुरुष' और 'सानेट बाज' कहा, शमशेर ने 'साहित्य का हनुमान' कहकर जिसकी अभ्यर्थना की, हिंदी के ऐसे आधुनिक रचनाकार हैं जो जीवंत होते हुए भी साहित्य के अजायबघर की पुरावस्तु जैसे प्रतीत होते हैं।

त्रिलोचन पर आलोचकों का ध्यान देर से गया। साठ वर्ष की आयु तक वह लगभग उपेक्षित से रहे। लेकिन उसके बाद वह जिस तेजी से केंद्र में आए उससे पिछली उपेक्षा की जैसे क्षतिपूर्ति हो गई।

क्षतिपूर्ति शब्द के प्रयोग के साथ गजानन माधव मुक्तिबोध की यह बात स्वाभाविक रूप से स्मरण हो आती है : 'कवि की प्रगतिशीलता आंतरिक क्षतिपूर्ति के रूप में नहीं आई है, वरन कवि के अपने जीवन संघर्ष से मंज-घिस कर तैयार हुई है।' दूसरी बात जो मुक्तिबोध ने लक्षित की वह यह कि त्रिलोचन में सेंटिमेंटेलिटी का लेश नहीं है। तीसरे यह कि त्रिलोचन 'प्राच्य क्लासिकल स्ट्रेन' और 'पाश्चात्य प्रोज टेकनीक' का समन्वय किया चाहते हैं।

हिंदी के युवा कवि समीक्षक गोविंद प्रसाद द्वारा संपादित *त्रिलोचन के बारे में* * शीर्षक चयनिका में मुक्तिबोध की *धरती* (त्रिलोचन का पहला काव्य संग्रह) पर लिखी समीक्षा में उन्होंने उपर्युक्त अभ्युक्तियां व्यक्त की हैं। चयनिका में संकलित नामवर सिंह के 'साधारण का असाधारण कवि' शीर्षक लेख में इन्हीं बातों को दोहराया गया है। तथापि नामवर सिंह के लेख का यह शीर्षक ध्यान आकर्षित करता है—'साधारण का असाधारण कवि'।

'साधारण-असाधारण' संबंधी प्रसंग मैनेजर पांडेय ने 'जीवन की लय में मुक्ति का राग' शीर्षक से संकलित अपने लेख में भी किया है। मैनेजर पांडेय का लेख नामवर सिंह के लेख से संभवतः पहले लिखा गया था और *आलोचना* के अंक-82 (वर्ष 1987) में छपा था। मैनेजर पांडेय कहते हैं : 'अपने बारे में ऐसी तटस्थता, लेकिन दूसरों की गहरी चिंता उनकी (त्रिलोचन की) विशेषता है। यह बाहर से *साधारण दिखने वाले उनके व्यक्तित्व की आंतरिक असाधारणता का प्रमाण है।*'

फिर भी त्रिलोचन के संदर्भ में 'साधारण-असाधारण' संबंधी प्रसंग को तार्किक परिणति तक नामवर सिंह ने ही पहुंचाया है। नामवर सिंह कहते हैं—'धरती की जिस भाषा से चंपा की कली फूटी है, उसी ने आगे चल कर त्रिलोचन से 'नगई मेहरा' शीर्षक लंबी कविता की सृष्टि करवाई, जिसमें गांव की पूरी संस्कृति मूर्तिमान हो उठती है। त्रिलोचन की कविता में साधारण जनों के बीच से उठाए हुए ऐसे चरित्र बहुत आए हैं। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियों में जैसी दुनिया रची है, कविता के क्षेत्र में बहुत कुछ वही काम त्रिलोचन ने किया। वहां अमूर्त्त जीवन नहीं, हाड़-मांस के जीते-जागते इंसान हैं, चित्र नहीं, चरित्र हैं—लड़ते-झगड़ते, हंसते-खीझते, नाचते-गाते, गिरते-पड़ते, फिर भी *जीते-जागते*। 'चंपा' और 'नगई मेहरा' के कविता होने में कुछ लोगों को संदेह है। संदेह इसलिए कि वे साधारण हैं। साधारण होने में ही उनकी असाधारणता है। **त्रिलोचन 'साधारण' के असाधारण कवि हैं।**'

मुक्तिबोध ने इस प्रसंग से परे 'अद्वितीय और विशिष्ट' शीर्षक निबंध में इसी बात को बेहतर ढंग से विवेचित किया है। वह निबंध इस चयनिका में संकलित नहीं है। उन्होंने नई कविता के एक महत्वपूर्ण कवि-समीक्षक होते हुए उस निबंध में यह कहा था कि नई कविता बाल-बच्चेदार लोगों की कविता नहीं है। अर्थात वह आम लोगों की कविता नहीं है, वह 'विशिष्ट' और 'अद्वितीय' व्यक्तियों की कविता है। यह व्यंग्योक्ति थी। त्रिलोचन और नागार्जुन की कविता आम लोगों की कविता है: बाल-बच्चेदार लोगों की कविता है। इसीलिए वे 'साधारण' के असाधारण कवि हैं। मुक्तिबोध द्वारा की गई अभ्युक्ति का ही नामवर सिंह ने अपने ढंग से 'अन्यथाकरण' कर दिया है। 'अन्यथाकरण' की प्रक्रिया का प्रयोग कालिदास की शब्दावली से उत्प्रेरित होकर पहली बार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। नामवर सिंह द्विवेदी जी के शिष्य हैं। इधर-उधर से ले-लिवाकर उसका अन्यथाकरण करते हुए उसे लगभग मौलिक रूप में प्रस्तुत कर देना उनकी विशेषता है। राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'उंचाए हाथ और त्रिलोचन की कविता' शीर्षक लेख में कालिदास की पंक्तियों (तथा अन्य संस्कृत साहित्य की प्रतिश्रुत उक्तियों) के संदर्भ में बड़े ही विद्वत्तापूर्ण और सटीक ढंग से त्रिलोचन की इसी विशेषता को रेखांकित किया है। वह कहते हैं : 'त्रिलोचन आलेख्य प्रख्य अर्थों के कवि हैं (आलेख्य-पेंटिंग)। पुरानी उक्ति वह उठाते हैं, पर कवि के संस्कार में वह नया रूप भी लेती है, उसमें और बहुत कुछ आ जुड़ता है।' संकलन में राधावल्लभ त्रिपाठी का लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। त्रिलोचन कवि के स्वभाव, प्रकृति और रचनाप्रक्रिया के संबंध में यह लेख बड़े ही अर्थपूर्ण इशारे करता है। त्रिपाठी जी यदि अन्य संस्कृत-कवियों के संबंध में भी त्रिलोचन के तत्संबंधी राग-विराग के कुछ उदाहरण दे देते तो लेख और अधिक मूल्यवान हो जाता। त्रिलोचन, मीर, गालिब जैसे उर्दू के महाकवियों की उक्तियों का

त्रिलोचन के बारे में—संपादक : गोविंद प्रसाद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2; पृष्ठ : 248; मूल्य : 170 रु.

भी अन्यथाकरण करते हैं। बाबा तुलसीदास की पंक्तियों के अन्यथाकरण के भी दृष्टांत खोजने पर मिल जाएंगे। शायद इसीलिए नामवर सिंह अपने लेख 'एक नया काव्यशास्त्र त्रिलोचन के लिए' में कहने पर विवश होते हैं : 'यह कोरा परंपरावाद नहीं। इसमें परंपरा की समीक्षा भी सक्रिय है। यह समीक्षा स्वयं परंपरा के अंदर से ही उभरती है।'

नामवर सिंह अपने इस लेख में त्रिलोचन के लिए एक नए काव्यशास्त्र की मांग करते है। यह मांग गैरजरूरी लगती है। यों भी राधावल्लभ त्रिपाठी का लेख इस तथ्य को सत्यापित कर देता है कि त्रिलोचन की कविता के लिए किसी नए काव्यशास्त्र की जरूरत नहीं है।

उसी लेख में नामवर सिंह ने यह टिप्पणी भी दी है : 'यह काशी आज का सच भले न हो, लेकिन त्रिलोचन की काशी यही है और वह इसी काशी की सृष्टि हैं। अच्छा हुआ जो वह चिरानी पट्टी से चलकर इलाहाबाद नहीं गए। वहां जाते तो वह अधिक से अधिक शमशेर हुए होते। या शमशेर जैसे। आधुनिक कवि। प्रयोगशील कवि। प्रगतिशील भी।'

गोया शमशेर कोई कम महत्वपूर्ण कवि हों। अथवा यह कि प्रगतिशील कवि को आधुनिक नहीं होना चाहिए। प्रयोगशील भी नहीं। निश्चय ही यह एक अवांछित टिप्पणी है।

गोविंद प्रसाद ने भी अपने 'त्रिलोचन की सहजता, जिसका प्राण सहजता' शीर्षक लेख में ऐसी ही एक टिप्पणी की है। वह कहते हैं—'मफहूम कथ्य काफी कुछ मिलता-जुलता है। फिर भी मनःस्थिति का जो मुकम्मल बयान त्रिलोचन की इन पंक्तियों में हुआ है, वह फैज नहीं कर पाए।'

दोनों कवियों की पंक्तियां भी उद्धृत की गई हैं, फैज की केवल दो और त्रिलोचन की आठ (चूंकि संदर्भ का तकाजा है) वह संदर्भ फैज की केवल इन्हीं दो पंक्तियों में आया है :

दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझसे भी दिलफरेब हैं गम रोजगार के।

त्रिलोचन की पंक्तियां हैं :

सचमुच, इधर तुम्हारी याद तो नहीं आई,
झूठ क्या कहूं। पूरे दिन मशीन पर खटना
बासे पर आकर पड़ जाना और कमाई
का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना।
इस उस पर मन दौड़ाना। फिर उठकर रोटी
करना। कभी नमक से कभी साग से खाना
धीरज धरो, आज कल करते तब आऊंगा
जब देखूंगा अपना घर कुछ कर पाऊंगा।

अब आप ही चुनिए।

त्रिलोचन समकालीन हिंदी कविता के (न्यूनाधिक) मैथिलीशरण गुप्त हैं। उन्हें शायद इसी नाम से एक पुरस्कार भी मिला है। मैथिलीशरण गुप्त की कृति *भारत भारती* राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित करने वाली एक महत्वपूर्ण कृति है। लेकिन यदि उसे रवींद्रनाथ ठाकुर की *गीतांजलि* से बेहतर कहा जाए तो जग-हंसाई ही होती है। इस प्रसंग को त्रिलोचन खूब जानते हैं। क्योंकि उन्होंने ही मेरी उपस्थिति में रामविलास शर्मा से (उक्त प्रसंग के संबंध में) एक बार जवाबतलबी की थी।

ऐसी भूलें बार-बार नहीं होनी चाहिएं। लेकिन गोविंद प्रसाद ने अपने उसी लेख में त्रिलोचन के आत्म संघर्ष, जीवन संघर्ष और साहित्यिक संघर्ष का शिद्दत के साथ चित्रण किया है। यह चित्रण दिल और दिमाग को छू लेता है।

त्रिलोचन छायावाद और उर्दू शैली से मुक्त होने की कोशिश में अनूठे होते जाते हैं लेकिन यही कोशिश कहीं-कहीं उनकी रचनाओं को गैर-सर्जनात्मक भी बना देती है। आप संस्कृत के महाकवियों से प्रभावित हो सकते हैं लेकिन छायावाद के महाकवियों से नहीं। ऐसा भी क्या? लेकिन सर्वत्र ऐसा नहीं है। त्रिलोचन के गीतों पर निराला का प्रभाव है।

विश्वनाथ त्रिपाठी 'सहज सुंदर का अर्थ' शीर्षक लेख में त्रिलोचन की ग़ज़लों के बारे में यह कहते सुनाई पड़ते हैं कि त्रिलोचन की ग़ज़लें उर्दू परंपरा से हटकर हिंदी परंपरा की रचनाएं हैं। लगभग इसी तरह की बात व्यक्तिगत बातचीत के दौरान त्रिलोचन स्वयं भी कहते सुने गए हैं, प्रकारांतर से। लेकिन उर्दू-हिंदी की गंगा-जमुनी शैली के सुधी पाठक जानते हैं कि ये ग़ज़लें यत्र-तत्र ही प्रभावित करती हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने लेख में त्रिलोचन के प्रसिद्ध गीत—'आज मैं अकेला हूं, अकेले रहा नहीं जाता' की जो मार्मिक विवेचना की है, वह अपने आप में एक उपलब्धि है। निम्न वर्ग के किसान-मजदूरों के आत्मनिर्वासन की पीड़ा को त्रिलोचन ने अपने सानेटों और गीतों में बड़े ही मार्मिक अंदाज के साथ चित्रित किया है। त्रिपाठी जी ने इस ओर जो संकेत किए हैं उनके कारण भी यह लेख बरबस ध्यान खींच लेता है।

आलोच्य चयनिका त्रिलोचन के कवि कर्म पर लिखे गए लेखों (टिप्पणियों), समीक्षाओं को एक गुलदस्ते के रूप में पेश करने का संभवतः पहला प्रयास है। यों भी हिंदी में त्रिलोचन पर कोई पुस्तक नहीं लिखी गई। एक किताब जीवन प्रकाश जोशी ने लिखी थी लेकिन उसने हिंदी पाठकों का ध्यान आकर्षित नहीं किया। दूसरी पुस्तक कमला कांत द्विवेदी और दिविक रमेश के सह-संपादन में प्रकाशित हुई थी लेकिन उसमें त्रिलोचन से लिए गए दीर्घावधि साक्षात्कार ही संकलित किए गए। हो सकता है, इधर के वर्षों में कोई पुस्तक या शोध प्रबंध लिखा गया हो। कुल मिलाकर कहना यह है कि ऐसे माहौल में त्रिलोचन जैसे महत्वपूर्ण कवि पर केंद्रित सामग्री को एकत्र कर चयनिका के रूप में प्रस्तुत करना, साहित्य की सेवा करना है। संपादक इसके लिए साधुवाद के पात्र हैं। तथापि, कुछेक महत्वपूर्ण लेख/समीक्षाएं चयनिका में संकलित होने से रह गई हैं। उदाहरण के लिए श्याम कश्यप का एक आलेख (समीक्षा) *आलोचना* में प्रकाशित हुआ था, वह नजरंदाज नहीं होना चाहिए था। इसलिए भी कि चयनिका की अधिकांश सामग्री *आलोचना* पत्रिका के अंकों से ही ली गई है। समीक्षा होते हुए भी वह एक लंबा लेख है जो त्रिलोचन की कविता के बारे में सचमुच एक दस्तावेज है। नामवर सिंह के दो लेखों को संकलित करने का औचित्य भी विवादास्पद है।

निराला और आज के गीतिकाव्य के बीच त्रिलोचन का गीतिकाव्य एक महत्वपूर्ण कड़ी है। मैंने अपनी *साहित्य स्रष्टा निराला* शीर्षक पुस्तक में आज से डेढ़ दशक पूर्व इस संबंध में कुछ टिप्पणियां की थीं। सानेटों से अधिक महत्वपूर्ण उनका गीतिकाव्य है। निराला के बाद वह माधुर्य और प्रसाद गुण

पृष्ठ 58 पर जारी

पुस्तक चर्चा

वास्तुकला और वास्तुविद्या

विनोद शर्मा

हिंदी में वास्तुकला पर किताबें नहीं के बराबर हैं। कारण दो हैं। एक—वास्तुकला से जुड़ा व्यक्ति वास्तुकला का अध्ययन अंग्रेजी में ही करता है और अपने विचारों को अंग्रेजी में ही व्यक्त कर पाता है। दूसरा यह कि वास्तुकला की शब्दावली अंग्रेजी, ग्रीक या लैटिन में उपलब्ध है जिसे हिंदी में उल्था करने से कृत्रिम भाषा अस्तित्व में आती है—पारिभाषिक शब्दावली आयोग द्वारा निर्धारित अनुवाद के कारण। जाहिर है कि वास्तुकला पर हिंदी में बोधगम्य व उत्कृष्ट कृतियों की रचना के लिए जिस स्तर की सृजनशीलता की जरूरत है वह अभी तक उजागर नहीं हो पाई मगर उसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

फिलहाल जिस पुस्तक की चर्चा की जा रही है उसका शीर्षक है *भारतीय वास्तुकला* * किंतु उसका संबंध वास्तुकला से उतना ही है जितना ज्योतिष का खगोल विद्या से। यानी दोनों में कोई संबध नहीं। दरअसल इस पुस्तक का विषय है—वास्तुविद्या न कि वास्तुकला।

रामायण, महाभारत, कालिदास की कृतियों और पुराणों में महलों, भवनों, नगरों के वर्णन से जिस उन्नत वास्तुकला का परिचय हमें मिलता है उसके बारे में लेखक की पुस्तक अगर जरा-सी भी जानकारी देती तो हिंदी के पाठक उनके आभारी होते। किंतु भारतीय वास्तुकला के इतिहास, उसके आधुनिक स्वरूप के अध्ययन व तर्क से परे वह हमें अंधविश्वासों की एक ऐसी दुनिया में ले जाते हैं, जहां पहुंचकर हम भूमिपूजन के महत्व, गृहप्रवेश के मुहूर्त की शुभ घड़ी तथा भूखंड व उस पर निर्मित भवन के शुभ-अशुभ होने न होने के विवरणों में उलझ जाते हैं। लेखक का सुझाव है—'साधारणतया भूमिग्रहण, नींव स्थापन, निर्माण कार्य आरंभ व मुख्य द्वार स्थापना तथा गृहप्रवेश के समय ज्योतिषशास्त्र सम्मत मुहूर्त शोधन करना चाहिए तथा सूत्रपात, भूमिशोधन, शिलान्यास, द्वारस्थापन तथा प्रवेश के समय वास्तु का पूजन अवश्य करना चाहिए। पुराने मकान की आयु पूर्ण हो जाने पर भी वह अशुभ फल देने लगता है। अतः उस समय भी वास्तु शांति करनी चाहिए।' (पृ. 83)

इन पंक्तियों में कौन बोल रहा है—कोई पुरोहित या वास्तुकार? विज्ञान और उन्नत टेक्नालॉजी के युग में स्थापत्य और भवन निर्माण कला के क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। किंतु जीर्ण भवन को वास्तु की शांति से रीइंफोर्स करने की टेकनीक के बारे में अभी तक सुना नहीं गया। सामान्यतः हर इमारत की आयु (डिजाइंड एज) होती है या यों कहें कि निर्धारित की जाती है। उम्र खत्म होने पर अगर संभव हो तो विशेष मरम्मत द्वारा उसकी उम्र को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है अथवा उसे खतरनाक घोषित करके ढहा दिया जाता है। अगर वास्तु की शांति से काम चलता होता तो पुरानी दिल्ली में खुद-ब-खुद ढहते पुराने मकानों को ढहने से रोक दिया जाता और पुरातत्व विभाग को ऐतिहासिक महत्व के सैकड़ों वर्ष पुराने स्मारकों के रख-रखाव पर प्रचुर धन खर्चने की जरूरत न पड़ती।

रही बात भूखंड के शुभ-अशुभ होने की तो यह बात भी गले नहीं उतरती। लेखक का यह दावा कि आयताकार भूमि पर निवास सर्वसिद्धि दायक, चौकोर भूमि पर धनप्रदायक, वृत्ताकार पर बुद्धिदायक तथा भद्रपीठ पर निवास सर्वकल्याणकारी होता है—निराधार व अवैज्ञानिक है। देखें (पृ. 19)

आधुनिक वास्तुकला 'स्पेस यूटिलाइजेशन' पर बल देती है, भूखंड की ज्यामितीय आकृति पर नहीं। निर्माण या डिजाइन की सुविधा को ध्यान में रखते हुए आम तौर पर अधिसंख्य भूखंडों को चौकोर या आयताकार ही रखा जाता है किंतु इसका शुभ होने न होने से कोई रिश्ता जोड़ना तर्कसंगत नहीं। लेखक ने अपने कथन के समर्थन में, सूत्रधार, मत्स्यपुराण, वास्तुरत्नाकर, नारदसंहिता, बृहत्संहिता, समरांगण के श्लोकों का सहारा लिया है, जो तर्क व विश्लेषण के अभाव में कथन की प्रामाणिकता तो सिद्ध करते हैं मगर उसकी विश्वसनीयता नहीं। यों लेखक या उसकी पुस्तक से स्थापत्य पर गंभीर चर्चा की उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसने वास्तुकला के बजाय कामर्स में डिग्री ली है और भारतीय संस्कृति एवं प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन में रुचि के बल पर 'भारतीय वास्तुकला' पर पुस्तक लिखने का उसका प्रयास उस व्यक्ति के प्रयास जैसा है जो बिना किसी मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालय से डिग्री हासिल किए, सिर्फ घर में चिकित्साशास्त्र की किताबें पढ़कर रोगियों के इलाज का दावा करता है। आलोच्य पुस्तक वास्तुकला को पुनर्जन्म व यमदूतों के प्रसंगों तथा भूत-प्रेतों के किस्सों की रहस्यात्मकता से जोड़ने का प्रयत्न करती है मगर किसी भी रहस्य को खोलती नहीं। खोले भी कैसे? लेखक विश्लेषण या तर्क के बजाय अंधविश्वास का हिमायती जो है।

यह एक दिलचस्प संयोग है कि आलोच्य पुस्तक सन 1994 में प्रकाशित हुई और इधर पिछले कुछ महीनों में 'वास्तुविद्या' पर कुछ लेख भी हिंदी और अंग्रेजी के अखबारों में छपे जैसे *नवभारत टाइम्स* में कैलाश वाजपेयी का लेख 'कहीं आप गलत ढंग से बने मकानों में तो नहीं रह रहे हैं?' तथा 21 जनवरी, 1995 के *द हिंदुस्तान टाइम्स* में प्रकाशित नीलम मैथ्यूज का लेख 'लिविंग विद दि एलिमेंट्स'। नीलम जी हमें बताती हैं कि निर्माण की विधि से किस प्रकार समृद्ध हुआ जा सकता है? अपने लेख में वह इस बात पर जोर देती हैं कि भवन निर्माण के लिए भूखंड सावधानी से चुनना चाहिए। दम्माणी भी यही कहते हैं—'सभी प्रकार की भूमि वास्तुकर्म हेतु उपयुक्त नहीं होती। अतः मकान आदि का निर्माण करने से पूर्व भूमि की भली भांति परीक्षा कर लेनी चाहिए।' (पृष्ठ 20)

यहां भूमि परीक्षा से अभिप्राय 'साएल मैकेनिक्स' से जुड़ी 'साएल इंवेस्टीगेशन' नहीं बल्कि भूखंड की शुभ-अशुभ आकृति या स्थिति की जांच से है। कैलाश वाजपेयी का कहना है कि 'नए (वास्तु) विशेषज्ञ इस बात पर बहुत बल देते हैं कि घर में रसोई कहां बने अथवा फिर घर का द्वार किस दिशा में खुले? पिछले वर्षों में ऐसे कई उदाहरण सामने आए हैं जिनमें वास्तुकारों की सलाह मानकर अपने आवास अथवा उद्योगस्थल की बनावट पर दिए गए परामर्श के अनुरूप फेरबदल करने पर लोगों को अप्रत्याशित लाभ हुआ है।' आलोच्य पुस्तक भी यही कहती है। इसमें संदेह नहीं कि उक्त दोनों लेखों में आलोच्य पुस्तक की तुलना में वास्तुविद्या की ओर पाठकों का ध्यान कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से खींचा गया है किंतु इन लेखों के लेखक भी सतही बातों तक ही सीमित रहते हैं, पाठक को विज्ञान या तर्कसम्मत सत्यापन तक नहीं ले जाते। ❑

भारतीय वास्तुकला : ब्रजमोहन दम्माणी; कामेश्वर प्रकाशन, बीकानेर; मूल्य : 80 रुपये; पृष्ठ : 94



अध्यात्म से भौतिकवाद तक

दर्शनशास्त्र के उद्‌भव, विकास और भविष्य पर लिखी आठ पुस्तकों की शृंखला पर **आलोक श्रीवास्तव**।

क्या हैं आज मानवता के दुख? दर्शन के पास इस दुख से वास्तविक निष्कृति का मार्ग क्या है? और कौन हैं वे दुखी जन? और दुख होता क्या है? आता कहां से है? शायद ये ही सवाल केंद्र में थे, जिनके चलते देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपना संपूर्ण जीवन दर्शन के अवगाहन में खपा दिया। पिछले वर्ष अपनी मृत्यु से ठीक पहले वह हमें यह अनुपम ग्रंथमाला दे गए। उनका दर्शन का यह अवगाहन एकांगी नहीं था, दिशाहीन न था। प्राचीन भारतीय दर्शन में उन्होंने प्रगतिशील विचारों के सूत्र ही नहीं खोजे, अपूर्व मेधा और प्रतिभा के साथ इन मूल्यों को स्थापित भी किया। समाज के विकास और इतिहास की गति के सापेक्ष दर्शन को रखकर उन्होंने उसे जीवंतता दी, मूल्यवत्ता और एक अडिग शक्ति दी जो विचारों की ओर प्रकारांतर से जीवन की रणभूमि में खड़े इंसानों के जेहन का अहमतर हिस्सा बनेगी। जब कहा गया कि उनका यह संपूर्ण उपक्रम एकांगी नहीं था तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि उन्होंने मार्क्स के सिद्धांतों की दीप्ति में दर्शन की विभिन्न शाखाओं और विचारों का मूल्यांकन किया, पर जड़ यांत्रिक तरीके से नहीं, न देश और काल के वैशिष्ट्य को परे रखकर अमूर्त सैद्धांतिकीकरण किया, और न ही जीवन की अग्रगति और इंसानी पीड़ाओं को पीठ देकर 'दर्शन दर्शन के लिए' का कोई रूढ़ अकादमिक पथ अपनाया। इसीलिए उनका कार्य वर्तमान बौद्धिक माहौल में एक हस्तक्षेप है जिसमें जीवन की जय का संदेश निहित है।

यह ग्रंथमाला विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई आठ स्वतंत्र पुस्तकों से मिलकर बनी है। ग्रंथमाला की पहली पुस्तक है—*दर्शनशास्त्र के स्रोत*, दूसरी है—*चीन में दर्शनशास्त्र*, तीसरी—*भारत में दर्शनशास्त्र*, चौथी—*यूनान में दर्शनशास्त्र*, पांचवीं—*यूरोप में दर्शनशास्त्र : बेकन से मार्क्स*, छठी—*यूरोप में दर्शनशास्त्र : मार्क्स के बाद*, सातवीं—*बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र*, आठवीं तथा अंतिम पुस्तक है— *दर्शनशास्त्र और भविष्य*। पहली और आखिरी पुस्तक *दर्शनशास्त्र के स्रोत* तथा *दर्शनशास्त्र और भविष्य* के लेखक स्वयं देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय हैं। पहली कड़ी में प्रागैतिहासिक काल में दिखती दर्शन की विरल चिंगारियों की शिनाख्त से शुरू कर उन्होंने आखिरी कड़ी में बेतहाशा वैज्ञानिक प्रगति और तकनीकी उपलब्धियों के युग में दर्शन की सकारात्मक भूमिका पर दृष्टिपूर्ण विवेचना की है तथा सदियों में फैले दर्शन के तमाम विचारों को एक तारतम्य दिया है। प्रो. चट्टोपाध्याय ने दर्शनशास्त्र के स्रोत के आमुख में प्रश्न उठाया है, "इस संपूर्ण शृंखला का उद्देश्य ही दार्शनिक गतिविधियों का सर्वेक्षण करना है अतः स्वाभाविक रूप से पहला प्रश्न उठता है कि दर्शनशास्त्र क्या है? इसे हम कैसे परिभाषित करें?" वे आगे लिखते हैं। "दर्शनशास्त्र के लिए दर्शनशास्त्र की संकल्पना मान्य नहीं है। दर्शनशास्त्र तभी सार्थक होता है जब उसे उन सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए जिनमें दर्शनशास्त्री जीता है।"

इन आठ खंडों में मानव इतिहास में अब तक अर्जित पूर्व और पश्चिम के दार्शनिक विचारों का परिचय है—दृष्टिपूर्ण विश्लेषण और चिंतन के साथ। सभ्यता, तकनीक, समाज और संस्कृति के विकास के मुताबिक चरणों में दर्शन का विकास हुआ है। उपलब्ध भौतिक परिस्थितियों के संदर्भ में मनुष्य के दार्शनिक ज्ञान में क्रमिक इजाफा हुआ है और क्रांतिकारी मोड़ आए हैं। कभी भी किसी भी दार्शनिक को कोई भी दर्शन इलहाम नहीं हुआ। तकनीकी पिछड़ेपन और सभ्यता के उषा काल में ईश्वरवादी दर्शन का प्रादुर्भाव उतना ही स्वाभाविक था, जितना औद्योगिक क्रांति के मुहाने पर आ पहुंची दुनिया में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का आविर्भाव। और यह भी सच है कि आरंभ से ही ऐसे विचारक भी हुए हैं जिन्होंने संपूर्ण ईश्वरवाद को कठोर संशय की निगाहों से देखा और दूसरी ओर आधुनिक विश्व में कौन कहेगा कि ऐसे विचारकों-बौद्धिकों की तनिक भी कमी हुई है जिनकी संपूर्ण विचार-प्रणाली दर्शन के मध्य काल की बंद सुरंगों में ही अंध चहलकदमी कर रही है। बल्कि यथार्थ तो यह है कि इन दूसरी तरह के बौद्धिकों का ही आज बाहुल्य है। इसके बहुत दबे-छिपे नहीं स्पष्ट उजागर भौतिक कारण हैं—रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध लोगों का आखिर यही तो सर्वाधिक उचित और उपयुक्त तरीका हो सकता है दर्शन या जीवन के बारे में सोचने का।

बहरहाल इन आठों खंडों में दर्शन की एक मुकम्मल तस्वीर बनती है, जो जीवन और जनता से गहन प्रतिबद्धता का प्रतिफल है। इन सभी खंडों में एक तारतम्य है, जो स्पष्ट रूप से भविष्य की ओर इंगित कर रहा है। पहला और आखिरी खंड उन दो पाटों की तरह है जिनके बीच कई हजार वर्षों के इंसानी तत्व-ज्ञान का दरिया प्रवाहित हुआ है। पहली कड़ी में प्रो. चट्टोपाध्याय ने मानव इतिहास के आरंभिक काल में दर्शन की विरल चिंगारियों की शिनाख्त की है। उनकी यह पुस्तक विश्व-दर्शन की इस शृंखला का आधार या पूर्व-पीठिका है। लेखक 'धरती पर मानव' से आरंभ करता है। वह स्पष्ट कहता है कि "धरती के जन्म और उस पर जीवन के आरंभ के बारे में न तो स्पष्ट जानकारी है और न ही सर्वसम्मत विचार। जो बात स्पष्ट रूप से ज्ञात है वह है—इस धरती पर प्रगट होने वाले मानव के विकास की कहानी। इस कहानी के समानांतर ही चलती है दर्शन के विकास की कहानी।" मानव इतिहास के प्रथम आधार की रूपरेखा चित्रित करने और उसके मानव के कायिक संगठन एवं शेष प्रकृति से उसके संबंध की विवेचना करने के बाद लेखक इस प्रश्न से टकराता है कि दर्शन से पूर्व क्या था? "क्योंकि

मानव के उदय एवं प्रारंभिकतम विचारकों के बीच समय का इतना बड़ा अंतराल है कि उसकी कल्पना सहज नहीं है। एक मोटे अनुमान के अनुसार धरती पर मानव का उदय लगभग दस लाख वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है जबकि प्रारंभिक दर्शनशास्त्रियों के दर्शनशास्त्र ईसा से सातवीं या छठी सदी पहले मिलते हैं। इस बीच की अवधि में क्या हुआ और कैसे मानवों का एक समूह, शायद एक अत्यंत छोटा समूह दर्शनशास्त्र की ओर प्रवृत्त हुआ?"

इस सवाल के जवाब की तलाश में वह मानव विकास के क्रांतिकारी परिवर्तनों का जायजा लेते हैं। भोजन-संग्रह से भोजन-उत्पादन की ओर फिर अतिरिक्त उत्पादन करने की स्थिति तक पहुंच जाने के बाद किस प्रकार मानव समाज में वर्ग-विभाजन का आरंभ होता है और इसी के साथ जंगलों, पर्वत गुफाओं और कबीलों का युग लद जाता है। फिर शुरू होता है इतिहास का वह दौर जब मनुष्य ने अपने लिए नगरों का निर्माण और विकास किया, गांव और बस्तियां बसाईं। विकास की कई हजार वर्षों में फैली इस विशद प्रक्रिया में खुद मनुष्य में परिवर्तन हुआ। मस्तिष्क के इस्तेमाल की अधिकाधिक जरूरत और प्रकृति और शेष मानव समूह से संबंध की जटिल द्वंद्वात्मकता से दर्शन के आरंभिक विचार प्रस्फुटित हुए। धर्म और दर्शन का घालमेल चाहे जितना भी क्यों न किया जाए पर आरंभ से ही धर्म और दर्शन न सिर्फ पृथक अस्तित्व रखते आए हैं, अपितु दर्शन का अभ्युदय ही धर्म के विरोध में हुआ है। धर्म के पोषक "पुरोहितों एवं उनकी संस्थाओं की सत्ता को तोड़ने की आवश्यकता थी। इसका आरंभ सर्वप्रथम दो केंद्रों में हुआ—प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में। यहीं लगभग ईसा से सात सौ साल पहले सर्वप्रथम दर्शनशास्त्री हुए।"

इसके बाद लेखक ने 'गंगा घाटी सभ्यता में दर्शन' शीर्षक के अंतर्गत ईसा से छह-सात सौ साल पहले दर्शन के उदय का वर्णन किया है। यहां एक गंभीर समस्या उठ खड़ी होती है। उपरोक्त अवधि से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व सिंधु घाटी का काल है। क्या इस सभ्यता का कोई दर्शन नहीं था? लेखक यह मानकर चलता है कि यदि रहा भी हो तो इस दर्शन का कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष न तो प्रमाण, न ही परंपरा शेष है। फिर आर्य कौन थे? ऋग्वेद क्या है? चूंकि प्राचीन भारत संबंधी तमाम इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, समाज का ज्ञान बेतरह पाश्चात्य विद्वानों के श्रम का ऋणी है तो उन्हीं विद्वानों की सीमाओं, पूर्वाग्रहों और इस देश को न समझ पाने की आंतरिक गांठों से बोझिल भी।

प्रो. चट्टोपाध्याय ने प्राचीन सिंधु घाटी सभ्यता के नगरों के नष्ट हो जाने के बाद एक हजार वर्षों के रिक्तकाल के अनंतर ईसा से छठी सातवीं सदी पहले भारत में पुनः शुरू हुए नगरीकरण के दौर में दर्शनशास्त्र का आरंभ माना। यह उपनिषद् की विभिन्न विचार-सरणियों तथा जैन और बौद्ध विचारों के जन्म का युग था। इस पुस्तक की महत्वूर्ण उपलब्धि है—थेल्स के बारे में किए गए इस दावे की जगह कि वह मानव इतिहास में पहला वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने वाला दार्शनिक था, इस बात की साधार स्थापना कि छांदोग्य उपनिषद् के उद्दालक प्रथम भौतिकवादी एवं प्रकृतिवैज्ञानिक थे जो थेल्स से थोड़ा पहले हुए। बहुश्रुत दार्शनिक याज्ञवल्क्य एवं उनके युग के विचारवादी दर्शन का वे परिचय देते हैं। याज्ञवल्क्य के संसार के नकार वाले इस घोर विचारवादी दर्शन को सत्तातंत्र के संरक्षण में भरपूर पनपने का अवसर मिला। लेखक इस विचारवादी, आत्मवादी, परलोकवादी दृष्टिकोण के भौतिक आधारों की पड़ताल करता है और अगले अध्याय में बहुत प्रारंभ से ही अस्तित्व में रहे भौतिकवाद और आत्मवाद दोनों के मूलभूत दार्शनिक अंतर्विरोधों के परिणामस्वरूप भावी दर्शनशास्त्र—'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' के विकास का संकेत करता है।

"...किंतु तथ्यों का अतिसरलीकरण नहीं किया जाना चाहिए। यह सोचना भूल होगी कि वैज्ञानिक समाजवाद को कुछ प्रतिभाशाली लोगों ने एकाएक ही आविष्कृत कर लिया। इसके विपरीत यह मानव इतिहास के चरमोत्कर्ष का प्रतीक था, जिसके नियमों को उचित रूप से समझे जाने एवं निरूपित किए जाने की आवश्यकता थी। यह कार्य वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापकों ने किया। इससे संबंधित विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास भी इसी प्रकार हुआ। यह मानव-चिंतन के विकास की संपूर्ण प्रक्रिया का चरम उत्कर्ष था, जिसमें विचारवादी चिंतन भी सम्मिलित है ...."

उपनिषद्-युग के तत्वमीमांसीय कोलाहल में एक विलक्षण व्यक्ति का आगमन होता है। ये गौतम बुद्ध थे। दर्शन को उन्होंने तत्वमीमांसी चिंतन की जकड़ से मुक्त किया और इसे इंसानी पीड़ा से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। चट्टोपाध्याय बुद्ध के संपूर्ण दार्शनिक उपक्रम को उस विराट स्वप्न की तरह देखते हैं जिसके साकार हो सकने की सामाजिक दशाएं उस युग में मौजूद थीं ही नहीं। वे भौतिक आधार ही नहीं थे, जिनके कारण उस महान दार्शनिक स्वप्न की यथार्थ परिणति हो पाती। पर यह एक ऐसा विराट स्वप्न था जो धरती के दुखों की गहनतम संवेदना की मार्मिक प्रतीति से; मनुष्य के दुख की निविड़तम अनुभूति से उपजा था, "बुद्ध के लगभग ढाई हजार साल बाद जब समाज की वास्तविक उत्पादक शक्तियों ने समाज की वर्गीय संरचना से मनुष्य की यथार्थ मुक्ति के लिए आवश्यक यथार्थ दशाएं उत्पन्न कीं, केवल तभी समाजशास्त्र ने एक नया मोड़ लिया—एक यथार्थ वर्गहीन समाज की रचना की दिशा में समाज की वर्गीय संरचना से उत्पन्न विचारों और दृष्टिकोणों की चेतन-अचेतन बाध्यताओं से दार्शनिक चिंतन की मुक्ति की दिशा में ... "यह समाज की मुक्ति का पथ था। ढाई हजार साल पहले व्यक्ति के निर्वाण और दुख से निष्कृति के रूप में जिसका बुद्ध ने आभास किया था।"

शृंखला की दूसरी पुस्तक *चीन में दर्शनशास्त्र* के लेखक हैं जी. रामकृष्ण। इस पुस्तक में कंफ्यूशियस के नैतिक दर्शन से लेकर वहां बौद्ध धर्म के प्रवेश और मार्क्सवादी भौतिकवाद तक के इतिहास का वर्णन है। चीन में दर्शन की परंपरा प्राचीन रही है। परंतु जहां दुनिया के अन्य हिस्सों में प्राचीन दर्शन का मुख्य जोर तत्व-मीमांसा पर रहा है वहां चीन में नीति-शास्त्र को तरजीह दी जाती रही। अतः इस दर्शन में परलोक की जगह इहलोक की जगह को प्रमुखता मिली। काफी सीमा तक चीन में यथार्थवादी दर्शन का विकास हुआ। हालांकि भाववाद और रहस्यवाद की उसमें कभी कमी नहीं रही। ईसा [illegible] की पांचवीं से तीसरी शताब्दी का काल दार्शनिक चिंतन के लिहाज से काफी समृद्ध रहा। इसी युग में कंफ्यूशियस का चिंतन चीनी समाज के लिए एक जीवन-प्रणाली के रूप में उदय होता है। इसके बाद ताओवाद जैसे अनेक संप्रदाय विकसित होते हैं। सटीक अभिव्यक्ति आरंभिक चीनी दर्शनशास्त्रों की विशेषता रही है। उनके विचार सूक्तियों, सुभाषितों, संकेतों और दृष्टांतों के रूप में सुरक्षित हैं।

शृंखला की तीसरी पुस्तक—*भारत में दर्शनशास्त्र* के लेखक मृणालकांति गंगोपाध्याय हैं। पुस्तक में भारतीय दर्शन की प्राचीन, लंबी और अत्यंत जटिल परंपरा का कालक्रम से अध्ययन किया गया है, दर्शन की विभिन्न प्रणालियों के ग्रंथकारों एवं ग्रंथों का विवेचन किया गया है। जीवन, जगत, ब्रह्मांड और मनुष्य के बारे में ऋग्वैदिक काल से लेकर ईसा की पहली शताब्दी तक भारत में हुए दार्शनिक चिंतन की मुख्य प्रवृत्तियों और दिशाओं का तार्किक विश्लेषण हुआ है। ईश्वरवादी तथा भौतिकवादी चिंतन धारा को तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों एवं विकास के संदर्भ में जांचा-परखा

गया है। भारतीय दर्शन के साथ अध्ययन संबंधी अनेक कठिनाइयां जुड़ी हुई हैं। पहला तो इसकी प्राचीनता का सवाल है। फिर मूल्यांकन की यह दिक्कत है कि भारत की दार्शनिक सामग्री का जो विशाल भंडार है उसमें संग्रहीत विचारों का समग्र, तार्किक एवं यथार्थपरक मूल्यांकन कैसे किया जाए? फिर वर्गीकरण की समस्या आती है। परंपरागत वर्गीकरण इतना रूढ़, अर्थशून्य पर इतना अधिक प्रचलित है कि किसी भी जीवंत और तार्किक अध्ययन के लिए ढेर सारे शब्दों, मान्यताओं और परिभाषाओं को नए सिरे से व्याख्यायित करना होगा। भारतीय दर्शन के मर्म स्पष्ट विचारों और सूक्तियों में नहीं वरन् शब्दों में प्रच्छन्न उनके मंतव्यों के खुलासे पर निर्भर हैं। भारत में दार्शनिक गतिविधियां अत्यंत प्राचीन काल से धर्म और राजनीति से जुड़ी रही हैं, फलतः इनका विभिन्न दर्शनों की मूलवस्तुओं पर ही नहीं आज मौजूद उनके स्वरूप तक पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मसलन धर्मानुमोदित वंशाधारित राज्यतंत्रों ने भौतिकवादी विचारों को समाप्त करने, विकृत करने और गौण बनाने के सफल और भरपूर प्रयत्न किए। आज गहन बौद्धिक प्रयत्नों से इस दर्शन की टूटी ओझल कड़ियां कम-से-कम इतनी तो जुड़ ही सकी हैं कि भारत के अध्यात्मवादी, परलोकवादी, शास्त्र बोझिल दर्शन का प्रत्याख्यान किया जा सके।

शृंखला की चौथी पुस्तक—*यूनान में दर्शनशास्त्र*—के लेखक हैं रासविहारी दत्त। यूनानी दर्शनशास्त्र का आरंभ यूरोप के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ है। इसे यूरोप में एक तरह से वैज्ञानिक चिंतन की शुरूआत भी माना जा सकता है। छठी शताब्दी ई.पू. में दर्शनशास्त्री थेल्स और उनके शिष्यों ने यूनान में दर्शनशास्त्र को जन्म दिया। इसके बाद तो वहां की दार्शनिक परंपरा में पाइथागोरस, हेराक्लाइट्स, एलियावादी दर्शनशास्त्री, एंपेदोक्लीज, अनेक्सागोरस, सुकरात, अफलातून तथा अरस्तू तक एक लंबा इतिहास खिलता है। पुस्तक में यूनानी दर्शन की कहानी वहां के दर्शनशास्त्रियों और उनके कुछ सर्वश्रेष्ठ टीकाकारों के शब्दों में ही इस प्रकार प्रस्तुत की गई है कि प्राचीन यूनान में दर्शन की स्थिति की एक मुकम्मल तस्वीर उभरती है। यूरोप के इतिहास में यूनान के प्राचीन दर्शन का गहरा महत्व है। वस्तुतः इन प्राचीन यूनानी चिंतकों ने वैज्ञानिक तरीके से जीवन और जगत संबंधी प्रश्नों पर सोचने की शुरूआत की। यूनान के दर्शनशास्त्रियों की यह आरंभिक वैज्ञानिक परिदृष्टि ही भविष्य के यूरोप के वैज्ञानिक चिंतन का स्रोत बनी। आयोनिया नगर के दार्शनिक थेल्स को यूनान का प्रथम दर्शनशास्त्री माना जाता है। प्रकृति को स्वयं प्रकृति के जरिये समझने के थेल्स के प्रयास को उनके एक समकालीन या शिष्य अनाक्सिमिंदर ने आगे बढ़ाया। पर यूनानी दर्शन की वैज्ञानिक सोच वहां दास-प्रथा के आरंभ के बाद शिथिल पड़ी। पदार्थ और भौतिक जगत् में दिलचस्पी धीरे-धीरे कम होने लगी। पाइथागोरस के अनुयायियों ने विज्ञान और रहस्यवाद के एक अजीब से सम्मिश्रण को जन्म दिया। पाइथागोरस संप्रदाय के दो पक्ष हैं—गणित और रहस्यवाद। पहले पक्ष का वैज्ञानिक महत्व है तो दूसरा पक्ष यूनानी चिंतन में प्रतिगामी प्रवृत्ति का सूचक है। इसके बाद यूनानी दर्शन में एक नया मोड़ आता है। यह है ईसा से कोई पांच सौ साल पहले हेराक्लाइट्स का दर्शन। इन्हें आयोनियायी वैज्ञानिक परंपरा का चिंतन माना गया है। हेराक्लाइट्स का एक प्रसिद्ध कथन है, "यह विश्व जो हरेक के लिए एक समान है, किसी देवता या मनुष्य की रचना नहीं है। यह एक निश्चित अंतराल पर जलती और एक निश्चित अंतराल पर बुझती निरंतर विद्यमान अग्नि के रूप में हमेशा से रहा है, आज भी है, और हमेशा रहेगा।"

हेराक्लाइट्स के दार्शनिक विचार दास-प्रथा पर टिके प्राचीन यूनान के लिए बहुत क्रांतिकारी थे। इसके विरोध में अभिजात वर्ग के वर्चस्व का पोषक अमूर्तीकरण का दर्शन उपजा, जिसे एलियावादी दर्शन कहते हैं—ये एलियावादी विचार ही थे जो भविष्य में अरस्तू के अतिवादी विचारवाद के रूप में उत्कर्ष पर पहुंचे। ग्रंथमाला का यह खंड मूल पुस्तकों से ढेर सारे जीवंत उद्धरणों की प्रस्तुति के कारण सर्वाधिक रोचक बना है। इस पुस्तक के उपसंहार में सिर्फ कुछ पंक्तियां दी गई हैं। उन्हें दोहराना बेहतर होगा, "यूनानी दर्शनशास्त्र के बारे में अध्ययनों का क्रम जारी है और इस विषय पर निरंतर नई-नई पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, परंतु अध्ययन और अनुसंधान की नई तकनीकों और उपकरणों से लैस ये विद्वान अगर अंततः अपनी पुस्तकों को बौद्धिक कबाड़े के ढेर में फेंके जाने से बचाना चाहते हैं तो बेहतर है कि वे एक जरूरी बात याद रखें—यह कि एक भ्रष्ट समाज ने अंततः उस यूनानी प्रतिभा को किस तरह भ्रष्ट कर दिया, जो प्राचीन विश्व के अजूबों में से एक थी।"

यूरोप में दर्शनशास्त्र : बेकन से मार्क्स तक—ग्रंथमाला की पांचवीं पुस्तक है। इसके लेखक हैं—सतीनाथ चक्रवर्ती। इस पुस्तक में आधुनिक वैज्ञानिक युग के दर्शन का इतिहास है, जो फ्रांसिस बेकन से शुरू होता है और जिसका चरम रूप मिलता है मार्क्स में। बेकन ने 16 वीं सदी में यूरोप के विचारकों का आह्वान किया कि वे भौतिकवादी, विशेषतः भौतिकी के दृष्टिकोण को अपनाकर प्रकृति के रहस्यों को खोलें। यहीं से यूरोप में आधुनिक दार्शनिक चिंतन शुरू होता है, जिसकी परंपरा में देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्नीज, लॉक, कांट, हेगल और मार्क्स आते हैं। यह पुस्तक यूरोप के पुनर्जागरण एवं आधुनिक विज्ञान के उदय की चर्चा से प्रारंभ होती है और उस कालखंड की दार्शनिक प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत करती है, जो आधुनिक यूरोपीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में अत्यंत विचारोत्तेजक माना जाता है। इस पूरे युग के दर्शन की विशेषता है—दर्शन को समाज के संदर्भों में आंका और विकसित किया गया है। एक दहला देने वाले दृश्य के जिक्र से यह किताब शुरू होती है :

"उन लोगों (धर्माधिकारियों) ने उसे (ब्रूनो को) 27 फरवरी, 1600 के 'फील्ड ऑफ फ्लावर्स' में जला दिया। जब लपटों में उसके चूमने के लिए क्रास फेंका गया तो उसने अपना मुंह फेर लिया। विज्ञान का युग आरंभ हो चुका था।"

यूरोप में दर्शनशास्त्र का जो युग शुरू हुआ वह आधुनिक विज्ञान का युग था और उसकी नींवों में सत्य के लिए बलि देने वाले व्यक्तियों के रक्त का गारा था। इस युग ने यूनानी शास्त्रीय-युग की मौलिक रचनाएं पुनः खोजीं। नए सामाजिक संघर्षों ने द्वंद्व को जन्म दिया। यहां से बौद्धिकता की एक नई धारणा शुरू होती है। यह काल की गर्त में धंस रहे सामंतवाद का समय था। बुर्जुआ वर्ग का तेजी से उदय हुआ और उसी तेजी से नए विचार सामने आए। 19 वीं सदी में समाज विकास के एक नए निर्णायक मोड़ पर पहुंच गया। यह थी औद्योगिक क्रांति। इतिहास के इस मोड़ पर मार्क्स का यह सुविख्यात वाक्य अटल मसौदे के रूप में अंकित है—"सवाल दुनिया की व्याख्या का नहीं, उसे बदलने का है।" दुनिया को बदलने का मतलब वर्गहीन समाज की स्थापना था, विश्व का और मनुष्य का रूपांतरण था। पर "विश्व के रूपांतरण के गलत और सही दोनों प्रकार के रास्ते हो सकते हैं। विश्व को समझे बिना उसे बदलने का प्रयत्न करना इसका गलत ढंग है। इसका सही ढंग है कि विश्व के ज्ञान और बोध का उपयोग करके इसके रूपांतरण का प्रयास किया जाए।" मार्क्स और एंगल्स का दर्शन संबंधी बृहत् कार्य इसी ज्ञान और बोध को प्राप्त करने का महान उपक्रम है।

मार्क्स के बाद यूरोप के दर्शनशास्त्र में कई अध्याय जुड़ते हैं। शृंखला की छठी पुस्तक *यूरोप में दर्शनशास्त्रः मार्क्स के बाद* में इनका विवेचन है। शंकरी प्रसाद बंद्योपाध्याय की इस पुस्तक में यूरोपीय दर्शनशास्त्र के इतिहास

के उस कालखंड को लिया गया है जो हेगल और मार्क्स के बाद का काल है। लेखक के मुताबिक—मार्क्स ने जिस प्रकार हेगलीय दर्शनशास्त्र को विकसित किया वह मात्र विकास नहीं था, अपितु पूर्ण क्रांति अथवा इस दर्शन का कायांतरण था। इस कायांतरण ने आगे चलकर जिन विचारों और उनकी टकराहटों को जन्म दिया, पुस्तक में उनका विवेचन किया गया है। विचारवादी ब्रैडले और रायस ने 19वीं सदी के अंत में प्रकृति की भाववादी जटिल विवेचना की, फिर यथार्थवाद का दौर आया। जी.ई. मूर, बर्टेंड रसेल तथा कई अन्य दार्शनिक यथार्थवाद की विभिन्न शाखाओं के प्रतिनिधि थे। बीसवीं सदी के शुरू के इस दौर में फ्रांसीसी दर्शनशास्त्री बर्गसां के दर्शन को काफी मान्यता मिली। बर्गसां डार्विन के विकास सिद्धांत पर सवाल उठाते हैं। वह विकास का कारण एक विशिष्ट जैविक अंतः प्रेरणा को मानते हैं। उनका दर्शन प्राणिविज्ञान के गहन अध्ययन पर आधारित है। इसी युग में अमरीका के व्यावहारिकतावादी दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। शिलर, जेम्स, पियर्स, डेवी जैसे अमरीकी विचारक इस दर्शन के प्रतिपादक हैं।

शृंखला की सातवीं पुस्तक है—*बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र*। लेखक सुमन गुप्ता के अनुसार उन्होंने बीसवीं सदी की दो मुख्य प्रवृत्तियों—भाषा वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र और अस्तित्ववादी दर्शन का प्रतिपादन और आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का ही नहीं, बल्कि प्रकृति और मनुष्य के संबंध, मनुष्य और मनुष्य के संबंध तथा मनुष्य और वस्तुनिष्ठ विश्व के संबंध के बारे में अपना दृष्टिकोण रखने का भी प्रयास किया है। लेखक ने इस पुस्तक में समकालीन दार्शनिक चिंतन की दो मुख्य प्रवृत्तियों—भाषिक दर्शन-शास्त्र और सार्त्र के अस्तित्ववाद का मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन किया है। उन्होंने इन विचारधाराओं की अमूर्त तत्वमीमांसा प्रणाली पर प्रश्नचिह्न लगाया है। इस सदी के विलक्षण बौद्धिक चिंतक सार्त्र के विचारों पर उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियों में गहरा अभिप्राय है। वह मनुष्य के भवितव्य, उसकी स्वतंत्रता, उसके दायित्व और मनुष्य से मनुष्य के संबंध के बारे में सार्त्र के विचारों की गहन विवेचना करती हैं। वह सार्त्र द्वारा की गई मनुष्य की स्वतंत्रता की भाववादी व्याख्या की आलोचना करती हैं। वह लिखती हैं, "स्वतंत्रता मनुष्य द्वारा अपनी संभावनाओं को साकार बनाने का नाम है। मनुष्य प्रजातीय प्राणी है और इसलिए एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए मनुष्य अपनी मानवीय क्षमताओं का विकास केवल समाज में ही कर सकता है। स्वतंत्रता के संघर्ष का अर्थ है—समाज विशेष की संरचना में मनुष्य की संभावनाओं के विकास में जो भी बाधक तत्व हैं उन्हें समाप्त करना। सकारात्मक अर्थ में, स्वतंत्रता के लिए ऐसा समाज आवश्यक है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवसर उपलब्ध कराए।"

इस ग्रंथमाला की आठवीं और आखिरी पुस्तक है—*दर्शनशास्त्र और भविष्य*। इसके लेखक और ग्रंथमाला के संपादक देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने जिस प्रकार ग्रंथमाला की पहली पुस्तक *दर्शनशास्त्र के स्रोत* में पूरे संसार की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए एक भूमिका तैयार की थी, उसी प्रकार शृंखला की इस अंतिम कड़ी में उन्होंने संपूर्ण पुस्तकमाला का विहंगावलोकन किया है। वह प्रश्न उठाते हैं : "क्या ऐसा कोई व्यावहारिक-वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टिकोण है जो मनुष्य को उसके भविष्य के बारे में निश्चिंत करे?" फिर वह कहते हैं : "अपार महत्व की एक बात और है जिससे हम आंखें नहीं चुरा सकते। मार्क्सवाद हमें भविष्य की जो आशा दिलाता है वह आधुनिक विज्ञान को जन्म देने वाले आंदोलन के चरमोत्कर्ष का सूचक है।" दर्शनशास्त्र और मानव भविष्य के गंभीर सवालों को देवीप्रसाद ने इस कृति में उठाया है। इस संदर्भ में उन्होंने पुस्तक के आखिर में न्यूयॉर्क के नगरीय विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एमिरिट्स जॉन सोमरविले की नई पुस्तक—*द पीस रिवोल्यूशनः इथोस एंड सोशल प्रोग्रेस* के कुछ अंश प्रस्तुत किए हैं। ये अंश मानव प्रगति पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी की समकालीन क्रांति के प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। आखिरी अध्याय 'ज्ञान और हस्तक्षेप' में देवीप्रसाद विश्व के परिवर्तन में दर्शन के इस्तेमाल और योगदान को रेखांकित करते हैं: "दर्शनशास्त्र को चिंतन की द्वंद्वात्मक पद्धति अपनानी होगी और इस द्वंद्ववाद की जड़ें भी भौतिकवादी विश्वदृष्टि में गहरी जमी होनी चाहिएं।" ❑

दर्शनशास्त्र : पूर्व और पश्चिम ग्रंथमाला; संपादक : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

दर्शनशास्त्र के स्रोत : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; अनु. सुशीला डोभाल
चीन में दर्शनशास्त्र : जी. रामकृष्ण; अनु. इंद्रावती
भारत में दर्शनशास्त्र : मृणालकांति गंगोपाध्याय; अनु. सुशीला डोभाल
यूनान में दर्शनशास्त्र : रासविहारी दत्त; अनु. सुशीला डोभाल
यूरोप में दर्शनशास्त्र : (बेकन से मार्क्स तक) : सतीनाथ चक्रवर्ती; अनु. सुशीला डोभाल
यूरोप में दर्शनशास्त्र : (मार्क्स के बाद) : शंकरी प्रसाद बंद्योपाध्याय; अनु. सुशीला डोभाल
बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र : सुमन गुप्ता; अनु. नरेश नदीम
दर्शनशास्त्र और भविष्य : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; अनु. पंकज
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110006; मूल्य : प्रत्येक खंड 90 रुपये।

घुमक्कड़ी

पृष्ठ 46 से आगे

'पथ पर जाते हुए यदि मिल जाए बंधु तो बता देना, इस मुल्क में रात अभी हुई है .....' गाने वाले मेरे मित्र जब अपने-अपने आफिसों से निचुड़े कपड़ों की तरह घर वापस लौटते हैं तो उन्हें झेलना कतई आसान नहीं होता। उनकी पत्नी अपने हाथों में आरती के थाल की तरह जलपान लेकर खड़ी रहती हैं। बाल-बच्चे सकते में आ जाते हैं, बावजूद इसके वे कोई न कोई नुक्स निकालकर जब तक जी भर भोंक नहीं लेते, उनका मिजाज नार्मल नहीं होता है।

मेरे नौकरीपेशा मित्र का एक वाकया आपको सुनाऊं। एक शाम मैं अपने एक मित्र के साथ घूमने निकला। मैंने सोचा यह मुझे किसी पार्क में ले जाएगा और पहले की तरह क्रिसेंथेमम, डालिया, बोगनवेलिया, गंधराज और कुंद की विशेषताएं समझाएगा। मेरा अनुमान सोलह आने गलत निकला। पार्क में ले जाने के बजाय उसने मुझे सीधा सब्जीमंडी में घुसा दिया। करीब दो घंटे तक मैं अपने पाजामे को घुटनों तक उठाए हाट की बजबजाती गलियों में घूमता रहा। चवन्नी की बचत के लिए उसने हाट के कई चक्कर लगाए। बीच-बीच में वह मुझे खरीदारी के गुर समझाता। मैंने अपने मोटे दिमाग से केवल इतना समझा कि अब चार रुपये किलो पालक और बारह रुपये किलो टमाटर खरीदना एक नंबर की कमाई से कतई संभव नहीं है। ऐसे सनकी मित्रों की पत्नी मुझे विदा करते समय सजल नेत्रों से कहती हैं, "भैया! फिर आना, आपके आने से ये थोड़ा सहज हो जाते हैं।" मैं वापस आने का आश्वासन देकर हवा के झोंके की तरह चल देता हूं। अमूमन विदाई के समय मुझे मित्रों के सौजन्य से एक तरफ का किराया भी मिल जाता है। यही कारण है कि मेरी घुमक्कड़ी बदस्तूर जारी है। मुझे लगता है कि मेरे मित्रों को मेरी सख्त जरूरत है। आपको भी यदि कहीं मेरे मित्र मिल जाएं तो उन्हें थोड़ा-सा प्यार दीजिएगा। मेरे मित्र वाकई दया के पात्र हैं। ❑

पुस्तक चर्चा

यथार्थ और व्यंग्य के छोर

मोहन थपलियाल

संजीव उन कहानीकारों में है जिन्होंने सामाजिक प्रतिबद्धता और सरोकार को अपना अभीष्ट बनाया है। उनका नया कहानी संग्रह *प्रेरणास्रोत और अन्य कहानियां* * की पहली कहानी 'प्रेरणास्रोत' यह स्पष्ट कर देती है कि कहानीकार समाज को बदलने की तीव्र जिजीविषा रखता है और इस जिजीविषा को पूर्णता प्रदान करने के निमित्त कथाशिल्प का जो नमूना वह ग्रहण करता है वह उसे एक मंजे हुए एवं परिपक्व कथाकार की पांत में ला खड़ा करता है।

'प्रेरणास्रोत' में कथाकार ने जंगली बहू के रूप में अपनी कथा के लिए एक औरत गढ़ी थी जिसका खाका वह कुछ तेलंगाना, कुछ नक्सलबाड़ी, भोजपुरी और कुछ अन्य मुक्तिकामी आंदोलनों की स्थितियों से लेता है लेकिन यथार्थ में कथाकार के गांव की जो असली जंगली बहू है, उसने शायद इन नामों को कभी सुना भी नहीं होगा, देखने की कौन कहे? कहानी की जो जंगली बहू थी वह अन्याय का प्रतिकार करने में बेहद 'मिलिटेंट' थी जबकि हकीकत वाली उसके गांव की जंगली बहू बेहद भोली और निश्छल है। यह औरत अनपढ़, गंवार और निम्न जाति की है।

धीरे-धीरे गांव की सीधी-सादी जंगली बहू का चरित्र बदलने लगता है। वह प्रौढ़ पाठशाला में जाने लगती है और अपने लड़के को भी जो इक्का चलाता है प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाओं में भेजती है। विश्व बैंक की मदद से बन रहे ट्यूबवैल पर जब गांव का प्रधान अपना आदमी फिट करना चाहता है, तो जंगली बहू लेखक की मदद से हरिजन कोटे में अपना कोई आदमी आपरेटर लगाना चाहती है। वह नहीं जानती कि लेखक वह अदना-सा जीव है जो उसकी ज्यादा मदद नहीं कर सकता।

हकीकत की यह सीधी-सादी जंगली बहू क्रांति का पाठ पढ़ने में एक कोरी स्लेट सिद्ध हुई। धीरे-धीरे हरिजन और महिलाओं के सम्मिलित कोटे से एक दिन जंगली बहू पंचायत का चुनाव जीत जाती है। इसमें दो राय नहीं कि कहानीकार खुद भी क्रांति का पक्षधर है और जंगली बहू को चित्रित करके वह उसे भी क्रांति का समर्थक बनाता है। अंत में कहानीकार खुद भी क्रांति में शामिल होता है लेकिन क्रांति में शामिल होने की प्रेरणा उसे जंगली बहू ने दी है, या उसने जंगली बहू को दी है, यह प्रश्न वह तय नहीं कर पाता है। शायद इसी बिंदु पर कहानी की द्वंद्वात्मकता (अथवा कार्य-कारण पद्धति) अपना अभीष्ट सत्य उजागर करती है। कई दूसरी कहानियां भी शैक्षिक (डायडेक्टिव) एप्रोच रखती हैं।

'अल्लारक्खा, दरगाह और मूरतें' कहानी में दरगाह और मूरत वाला बखेड़ा किस तरह एक फुंसी से सांप्रदायिक जहरवाद का फोड़ा बनता है—परत दर परत यह समझाने की सफल कोशिश संजीव ने की है। समय और इतिहास को पकड़ते हुए यह कहानी उन पड़ावों की यात्रा से पाठक को परिचित कराती चलती है जहां दो गांव— रैयतपुर और आदमपुर अतीत के एक दौर में अपनी खुशियां और गम एक साथ बांटते थे, भले ही रैयतपुर में ठाकुर बसते थे और आदमपुर में पठान। धीरे-धीरे गांव (रैयतपुर) जब कस्बे में बदलने लगता है तभी से वहां सांप्रदायिक तनाव (मूरतें और दरगाह) की राजनीति शुरू होने लगती है। इतना ही नहीं खेल के नाम पर भी राजनीति शुरू हो जाती है। पाकिस्तान के जीतने पर आदमपुर के मुसलमानों में खुशी छा जाती है और भारत के जीतने पर रैयतपुर के ठाकुरों में। लेकिन कुछ सच्चे अमनपसंद इंसान जो शहर से डाक्टरी पढ़कर आए होते हैं इस सांप्रदायिक जहरवाद को खत्म करने के लिए अपनी कमर कसते हैं और अंत में अपनी जान तक कुर्बान कर देते हैं। कहानी के बीच में अल्लारक्खा एक ऐसा सीधा-सरल पात्र है जो कभी रैयतपुर और आदमपुर दोनों ही गांवों में सबको प्यारा था। लेकिन सांप्रदायिक वैमनस्य के चलते धर्म के ठेकेदारों ने उसे भी मजबूरन धर्म का 'नसेड़ी' बना दिया है। फिर भी धार्मिक संकीर्णता का असर उस पर ज्यादा नहीं रहता है। दरगाह में मूरतें मिलने के बाद सांप्रदायिक उन्माद भड़कता है जिसे शांत करने में रामलगन, कंवलजीत और याकूब अपनी लाशें बिछा देते हैं। इन लाशों को देखकर अल्लारक्खा का धर्म का नशा उतर जाता है और अपना बैंड बजाते हुए इन लाशों के जुलूस में वह आगे-आगे चलता है। इसी पूरे घटनाक्रम में उसे यह समझते अधिक देर नहीं लगती कि असली दरगाह और मूरतें तो इंसान ही हैं।

'मांद' कहानी में सामंती संस्कारों से ग्रस्त एक साहूकार यह सोचकर कि उसकी संपत्ति का वारिस कोई दूसरा न बन जाए, एक गरीब पंडित को बहुत सारे प्रलोभन देकर उसके लड़के को घरजंवाई बनाकर ले आता है। लेकिन अंत में गरीब बेटे की मां साहूकार पर भारी पड़ती है। पोते के जन्म पर जब वह साहूकार के घर जाकर उसके मुंह से अपने बेटे के लिए हिजड़ा शब्द सुनती है तो साहूकार की पूरी हेंकड़ी तोड़कर रख देती है और बेटे को घर ले आती है। पारंपरिक हिसाब से संजीव की इस कहानी का कथ्य व शिल्प एकदम सपाट है लेकिन पुरुषप्रधान समाज पर इसकी चोट काफी तीखी है।

'तुक, ताल, लय, मात्रा और छंद' कहानी में रंजन जी एक कवि हैं, जिनके माध्यम से लेखक ने इस व्यवस्था की तुक, ताल रेखांकित करते हुए उस एब्सर्डिटी की अच्छी-खासी पोल खोली है, जिसकी पोषक वह हमेशा से रही है। कुछ इसी तरह की कहानी 'कुछ तो होना चाहिए' भी है, जिसमें एक बूढ़े को उम्मीद है कि एक दिन इस आधे-अधूरे साहित्य, संस्कृति और राजनीति से बेहतर कुछ तो और होगा। कहानी के अंत में राजधानी ट्रेन के आसमान फट पड़ने वाले शोर के बीच में जैसे होने वाले परिवर्तन का प्रसव भी इंगित किया गया है।

'कर्फ्यूजन' संजीव की बेहद सशक्त कहानी है। कर्फ्यू के अमानवीय, कठोर और वीभत्स माहौल का बयान यह कहानी उतने ही चुप्पे ढंग से करती है जैसा कि अक्सर मंटो की कहानियों में देखने को मिलता है। बगल के शहर में कर्फ्यू के दौरान अपनी ड्यूटी पूरी करके एक सिपाही जब अपने शहर की बैरक में वापस लौट रहा होता है तब बदहवासी में वह कोड-वर्ड भूल जाता है। उसी की तरह की एक छाया जब उसकी ओर मुखातिब होती है तो वे दोनों एक-दूसरे से पूछे गए 'कौन' का जवाब दे पाने में असमर्थ हैं, लिहाजा दुश्मन समझकर एक दूसरे की जान ले बैठते हैं। जमीन पर ढेर होने के बाद उन्हें पता चलता है कि आज का कोड वर्ड 'भाई' था। यह कहानी फंतासी और हकीकत की उत्कृष्ट संपृक्तता भी प्रस्तुत करती है।

प्रेरणास्रोत और अन्य कहानियां : संजीव; किताबघर, नई दिल्ली; पृष्ठ : 192; मूल्य: सत्तर रुपये।

'संतुलन' कहानी की जोहरा बाई नाटकों में काम करने वाली एक ऐसी अभिनेत्री है जो पति से पिटने के बाद भी नहीं पिट सकी है। जोहराबाई पति की पिटाई को भी मोहब्बत की निशानी मानती है। संजीव की शायद यही कहानी है जो नारी को पुरुष के समक्ष काफी बौना और कमजोर कर देती है। यहां संजीव का लेखक 'डायलेक्टिक्स' का सही संतुलन नहीं कर पाता है इसीलिए जिंदगी और अभिनय के संतुलन में पति की मार का संतुलन भी शामिल हो जाता है। जोहराबाई पति की मार खाई जगहों को सात दिनों में सत्तर बार चूमती है। आखिर क्यों? संजीव का नारी-समर्थक कथाकार यहां यक-ब-यक पुरुष समर्थक लगने लगता है।

'सागर-सीमांत' फोकलोर की तर्ज पर औरत की वफा और मर्द की बेवफाई पर सुंदर ढंग से लिखी गई कहानी है। इस कहानी में मानवीय रिश्तों की प्रगाढ़ परतों की जुड़न-टूटन के साथ-साथ समुद्र की लहरों का संगीत और तूफान का शोर भी शामिल है। प्रेम, मिलन, बिछोह के बीच से गुजरती नसीबन, उसका गुजरता अतीत और गुजरता भविष्य—जहां उसका पति करीम और बेटा शफीक उसे अकेला छोड़कर सागर पार बंगलादेश चले जाते हैं और इस पार वह अकेली खड़ी रह जाती है अपने आप में विवश, हताश और स्तब्ध एक शिला की मानिंद।

कुल मिलाकर संजीव की अधिकांश कहानियां मौजूदा सामाजिक यथार्थ के कई पक्षों को उधेड़ती हैं। इन कहानियों की एक विशेष खूबी यह भी है कि संजीव ने कथा शिल्प में आजकल व्यवहृत 'उत्तर आधुनिकता' से काफी परहेज किया है, यद्यपि इसके कुछ रेशे उनके शिल्प में मौजूद हैं, लेकिन उनकी कहानियों पर सरासर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे 'पोस्ट मार्डर्निटी' अथवा 'डि-स्ट्रक्चरलिज्म' की शिकार हैं।

चार कविता पुस्तक और तीन कथा संग्रहों के बाद विष्णु नागर का पहला व्यंग्य रचनाओं का संग्रह *जीव-जंतु पुराण* * निश्चित रूप से लेखक को बहुमुखी सिद्ध करता है। 128 पृष्ठों के इस व्यंग्य संग्रह में विष्णु नागर की 39 रचनाएं हैं। कमोवेश सभी रचनाओं में पीड़ित व शोषित आदमी की वकालत है।

'कमीशन गरीबों ने खाया है' धारदार व्यंग्य है। यह अलग बात है कि सभी भारतीयों को जहां दो जून का खाना भी नसीब नहीं होता है और जहां वे पुलिस की मार से वह सब कुछ उगल देते हैं जो उन्होंने नहीं भी खाया होता है ऐसे में डंडा मारकर उनसे यह सच आसानी से उगलाया जा सकता है कि कमीशन उन्होंने (गरीबों) ही खाया है।

'जनता का भ्रम' में लेखक ने यह उद्घाटित किया है कि जिस देश के नेता तंत्र-मंत्र पर अटूट विश्वास रखते हैं वहां जनता का भला कैसे हो सकता है। इसलिए व्यंग्यकार ने जनता को 'वोट देने मत जाओ' का नारा दिया है। इसी तरह का एक राजनीतिक संदेश 'राम हार गए तो' व्यंग्य रचना में किया है जिसमें लेखक ने रामभक्तों को आगाह किया है कि यदि राम चुनावी लड़ाई में हार गए तो फिर तुम्हारा भला कैसे होगा? इसलिए बेहतर है कि राम को चुनावी मुद्दा न बनाया जाए। एक और सार्थक व्यंग्य 'जनादेश नृत्य' है।

तीखे व चुटीले राजनैतिक व्यंग्यों में 'गरीबी हटाओ से गरीबी बचाओ तक' 'मेरा देश महान', 'अब अंतराल का क्या होगा', 'लाल किले की प्राचीर से', 'शहीद रज्जब', 'स्वर्ग प्रयाण की राजनीति', 'भारत के मसीहा बनकर दिखाइए', 'अर्जुन को कृष्ण का उपदेश', 'यहां भूख से मरना मना है' तथा 'रावण तो मरता नहीं' एक खास मायने में इसलिए इस संग्रह की उपलब्धियां मानी जाएंगी क्योंकि समूचे भारतीय राजनैतिक परिदृश्य में इधर जिस तेजी से मूल्यों का ह्रास हुआ है वह सब कुछ बहुत सहजता लेकिन अत्यधिक कुशाग्रता के साथ विष्णु नागर ने ताश के पत्तों की तरह जमीन पर बिखेर दिया है।

राजनैतिक व्यंग्यों से हटकर 'जीव-जंतु पुराण' और 'गधा पच्चीसी' जैसे व्यंग्य एक अलग स्तर पर दिमाग को झकझोरते हैं। 'जीव-जंतु पुराण' खासकर इस संग्रह की ऐसी सार्थक रचना है, जो इस समाज में रह रहे हर अच्छे-बुरे आदमी को अपने गिरेवां में झांकने का मौका देती है। ❑

जीव-जंतु पुराण : विष्णु नागर; वाणी प्रकाशन; नई दिल्ली; पृष्ठ : 131, मूल्य : अस्सी रुपये।

साधारण की असाधारणता

पृष्ठ 51 से आगे

के एक श्रेष्ठ गीतकार हैं। उनके गीतों में मानव और प्रकृति के नैसर्गिक साहचर्य के आदिम संस्मरण और अद्यतन संवेदन गूंज-गूंज उठते हैं। मानव-प्रकृति के सामंजस्य और टकराव दोनों से उपजे राग-विराग यहां रचनाओं के धरातल पर चरितार्थ हो उठते हैं। निराला की ही तरह उनके गीतों में खेतिहर जीवनचर्या का उल्लास और संत्रास पूरी विश्वसनीयता के साथ वर्णित, व्यंजित और चित्रित होता है। निराला की ही भांति उनके गीतों में संस्कृत के महाकवियों और लोकगीतों की छायाएं और छवियां अन्यथाकृत आकृतियां उभरती हैं। अन्यथाकरण की यह प्रक्रिया जहां उन्हें एक ओर भारतीय कविता और काव्यशास्त्र से जोड़ती है वहीं दूसरी ओर वह इन दोनों कवियों को उस परंपरा से अलगाती भी है।

इसी प्रक्रिया द्वारा वह स्वस्थ और जीवंत परंपरा का अग्रेषण तथा मौलिक उद्भावनाओं का संप्रेषण करते हैं। परंपरा और मौलिकता की यही द्वंद्वात्मकता है। निराला और त्रिलोचन हिंदी गीतिकाव्य के विकास की यात्रा में परंपरागत हैं और मौलिक भी। निराला और त्रिलोचन का गीतिकाव्य इसी अर्थ और संदर्भ में हमारे लिए एक अत्यंत मूल्यवान विरासत का सिलसिला है।

मंजर आए आम कोयलिया न बोली
लहरों के अपने हाथ उठाए
धरती बसंत सखि को बुलाए
पड़े हैं सब काम कोयलिया न बोली।

— त्रिलोचन

गोविंद प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि त्रिलोचन की काव्य भाषा में अरुद्धांत प्रवाह है: तथापि उनकी कविता कहीं-कहीं सुभाषित होने लगती है। नामवर सिंह का भी अपने लेख में यही कहना है। नामवर सिंह ने प्रकारांतर से यह भी इशारा किया है कि रहीम की सूक्तियों की तरह त्रिलोचन की काव्योक्तियां जीवन के मर्मों को उद्घाटित कर देती हैं और इसीलिए उन्हें काव्येतर कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

गोविंद प्रसाद की चयनिका में रामविलास शर्मा, शिवप्रसाद सिंह, शमशेर, मुक्तिबोध, मलयज और विष्णुचंद्र शर्मा के लेख भी संकलित हैं। आलोचकों में मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और राधावल्लभ त्रिपाठी के लेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, रचनाकारों में शमशेर, रेणु और शिव प्रसाद सिंह के। ये लेख त्रिलोचन के संबंध में मूल्यवान अध्ययन सामग्री जुटाते हैं। ❑

गांव और शहर के बीच

निरंजन देव शर्मा

हिंदी कहानी अपनी सर्जनात्मकता और रचनात्मकता की यात्रा में कहीं रूप तथा शिल्प की नवीनता के साथ और कहीं सीधे-सपाट कथानक के साथ भारतीय समाज का बहुआयामी यथार्थ प्रस्तुत करती रही है। हिंदी कहानी के संक्षिप्त इतिहास में बहुत से ऐसे नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने इसे निरंतर समृद्ध बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया है, और ऐसे भी नामों की कमी नहीं जो बीच के अंतराल को भरने के लिए निरंतर लिखते रहे हैं।

हिंदी कहानी पर लगातार नजर रखने वालों के लिए हिमांशु जोशी का नाम कोई नया नहीं है। *अंततः, रथचक्र, मनुष्य चिह्न, जलते हुए डैने, हिमांशु जोशी की इक्यावन कहानियां, तपस्या तथा अन्य कहानियां* जैसे संग्रहों के माध्यम से हिमांशु जोशी ने अपनी पहचान बनाई है। *श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां* तथा *गंधर्व गाथा* इसी शृंखला की कड़ियां हैं तथा प्रस्तुत समीक्षा का आधार भी।

श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां * जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है लेखक की अब तक लिखी गई चुनिंदा आंचलिक कहानियों का संग्रह है। भूमिका में हिमांशु जोशी लिखते हैं : '..... इसमें धूल भी होगी धुआं भी। अनगढ़ता भी मिलेगी। फिर भी ये मेरी हैं। नितांत अपनी। अपनी जी हुई। देखी हुई। सुनी हुई। अपने अस्तित्व की पहचान।' सहसा *मैला आंचल* में रेणु के व्यक्तव्य की गूंज मुखर हो उठती है—'इसमें फूल भी हैं, शूल भी, धूल भी है गुलाब भी ..... मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।' वह आंचलिक परिवेश में रेणु की गहरी पैठ तथा रचनात्मक ऊर्जा ही थी कि आज भी रेणु के लेखन की अनुगूंज और पठनीयता बराबर बनी हुई है।

हिमांशु जोशी की आंचलिक कहानियों को परखते हुए रेणु के लेखन का जिक्र इसे पैमाना बनाना नहीं बस पीछे लौटकर महज आंचलिकता की सौंधी महक का अहसास दिलाना भर है। हिमांशु जोशी की कहानियों का पैमाना 'जीए हुए, देखे हुए, तथा सुने हुए' की सार्थकता तथा पठनीयता ही होगी। जांचना यह है कि लेखक का यह अनुभव कहानी के यथार्थबोध तथा रचनात्मकता के साथ ही साथ आंचलिकता के धरातल पर भी खरा उतरता है या नहीं।

जब हम आंचलिकता की बात करते हैं तो कहानी में प्रकट यथार्थ खंडों को ही नहीं बल्कि उस परिवेश को भी महत्व देते हैं जो प्रस्तुत यथार्थ को और भी सघन बनाता है, पठनीय बनाता है। यथार्थ बोध और शिल्प आपस में ऐसे घुल-मिल जाएं कि पाठक के मानस पटल पर थोड़ी या बहुत छाप छोड़ जाएं तो कहानीकार के लिखने के साथ-साथ पाठक का पढ़ना भी सार्थक हो जाए।

हिमांशु जोशी की 15 आंचलिक कहानियों का मुखर स्वर शहरी संक्रमण तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक कारणों से बदलते गांव तथा पहाड़ हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'अंधेरा और' गांव की सीमाओं और मजबूरियों का बेजा फायदा उठाने वाली व्यवस्था के प्रति परासिया के विद्रोह की कहानी है जो अंचल में व्याप्त व्यभिचार तथा शहर के गांव पर पड़ने वाले साए को भी अभिव्यक्ति प्रदान करती है। यही 'नई बात' गांव से शहर आए चंद्रावल्लभ की मजबूरियों की कहानी है। 'अपने ही कस्बे में' परिवेश तथा स्थितियों के बदलाव को डायरी शैली में व्यक्त करती है जो कहीं से भी आंचलिकता का अहसास करा पाने में अपर्याप्त है। 'एक चक्र' तथा 'अंतराल' सामान्य कहानियां हैं, 'अंतराल' का अंत जरूर सहज और स्वाभाविक बन पड़ा है। 'अंततः' का पगला बिरजू मूल्यहीनता के शिकार गांव में आदर्श स्थापित करने की गुहार लगाते हुए प्राण त्याग देता है तो 'आदमी : जमाने के' में देश के प्रति समर्पित दिखने वाले घुग्घू बाबू भी अंततः वही निकलते हैं—आदमी जमाने के।

'मनुष्य चिह्न' संग्रह की कुछ एक अच्छी बन पड़ी कहानियों में से एक है जो गांव में व्याप्त व्यभिचार तथा भ्रष्ट तंत्र को सहज तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान करती है। कहानी के संवादों की स्वाभाविकता तथा कथानक का प्रवाह कहानी को पठनीय बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। 'हरे सूरज का देश' तथा 'सीमा से कुछ और आगे' का मूल स्वर भी धीरे-धीरे बदल रहे गांव की पीड़ा का स्वर है। 'तरपन' गांव के पंडे-पुरोहितों की धनलोलुपता तथा अभाव में जी रही मधुलि की विवशता की कहानी है। यह कथानक हिंदी कहानी में पहले भी दोहराया जाता रहा है। 'सुराज' तथा 'कांछा' संग्रह की अपेक्षाकृत लंबी कहानियां हैं तथा पठनीय भी। 'सुराज' आजादी के बाद गांधीवादी मूल्यों के सहारे गांव में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा विद्रूपता के खिलाफ लड़ाई की कहानी है। गंगीका के सपनों को पूरा करने के लिए देव का निकल पड़ना कहानी को आशावादी स्वर प्रदान करता है।

'कांछा' निश्चित रूप से संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है जो बालक कांछा की संवेदनाओं तथा अनुभूतियों को पकड़ पाने में सफल सिद्ध हुई है। कहानी अपनी तौर पर कांछा की विवशताओं को मार्मिकता प्रदान करती है तो साथ ही साथ मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को भी उठाती है जहां पहाड़ की नारी का सुरक्षा के लिहाज से स्वार्थी हो जाना सामाजिक ढांचे की मांग है। कहानी 'कांछा' की आत्मीयता और भावुकता तथा उसकी मां की संवेदनहीन व्यावहारिकता के द्वंद्व को लेकर चलती है। कहानी का अंत पाठक को राहत देने के साथ-साथ कांछा के लिए भी कई रास्ते खोल देता है—'जो उसे कहीं भी ले जा सकते थे।'

---

* **श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां** : हिमांशु जोशी; कादंबरी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठः 160; मूल्य : सत्तर रुपये

गंधर्व गाथा : हिमांशु जोशी; किताबघर, नई दिल्ली; पृष्ठ : 215; मूल्य : सौ रुपये

संग्रह की अधिकांश कहानियों में आरोपित आंचलिकता स्वाभाविक गति को बाधित करता है। कुछ कहानियों में आंचलिकता के नाम पर शुरूआती पंक्तियों में महज प्रकृति चित्रण भर से काम चला देने की कोशिश की गई है। शिल्पगत नवीनता तथा नवीन जीवन दृष्टि दोनों का ही अधिकांश कहानियों में अभाव है इसीलिए कई कहानियां दोहराई गई-सी प्रतीत होती हैं।

दूसरे संग्रह *गंधर्व गाथा* की अधिकांश कहानियां महानगरीय भावबोध से उपजी कहानियां हैं जो मानवीय संबंधों की जटिलता को अलग-अलग स्तरों पर उठाने का प्रयत्न करती हैं। संग्रह की भूमिका में लेखक का वक्तव्य है : 'कहानियों में किंचित वैविध्य हो तो एकरसता का खतरा नहीं रहता।' किंतु एकरसता के खतरे से संग्रह मुक्त नहीं है।

'तुम्हारे नाम', 'वापसी', 'प्रेतपर्व' तथा 'उसका तारा' फौजियों तथा उनके संबंधियों के त्याग, वियोग तथा संबंधों की गहराती खाई को प्रकट करने वाली कहानियां हैं। 'प्रेतपर्व' पलटन की नौकरी से छुट्टी पर लौटे डिकरदेव की अन्यमनस्कता तथा उसकी पत्नी गोपुली की विवशता की करुण गाथा है। कहानी की पृष्ठभूमि गांव की है तथा अन्य कहानियों की अपेक्षा अच्छी बन पड़ी है। 'काला दरिया' उदली के कोठे पर पहुंचने की व्यथा तथा शारीरिक-भावनात्मक स्तरों पर शोषित होते रहने की विडंबना का चित्रण है।

'स्मृतियां', 'अथाह', 'इति', 'सुनंदा' तथा 'गंधर्व गाथा' प्रेम संबंधों के अधूरेपन-खालीपन को न भर पाने के द्वंद्व तथा विषाद की कहानियां हैं जिनमें 'अथाह' कहानी का प्रवाह तथा खीझ और झुंझलाहट पाठक को बांधे रखने में सफल है। 'गंधर्व गाथा' की रत्नम अपनी नैतिकता तथा अतीत से लगाव के कारण अखिलन को स्वीकार नहीं कर पाती। वर्तमान जटिल सामाजिक परिवेश में नौकरी, रिश्ते-नातों तथा अभावों से जूझती जिंदगी में परस्पर आकर्षण और द्वंद्व का ताना-बाना बुना गया है। 'तुम और तुम' एक असफल प्रेम को प्रकट करने वाली सतही कहानी है।

'जीना मरना' और 'इस बार बर्फ गिरी तो' अभावों में जीते परिवार की कहानियां हैं। जहां 'जीना-मरना' अपने कलेवर में सहज तथा पठनीय है, वहीं 'इस बार बर्फ गिरी तो' सपाटबयानी में दब गई है। 'एक दिन' महानगरीय जीवन की एकसार जिंदगी में व्याप्त अकेलेपन, संवेदनहीनता तथा भावशून्यता को प्रकट करती है। 'रेत की धाराएं' में महानगरीय जीवन में पति-पत्नी के रिश्ते में संवेदनहीनता तथा दैहिक प्यास को अभिव्यक्ति प्रदान करती है तो 'अलग-अलग प्रश्न' भोगवादी और आदर्शवादी विचारधारा के द्वंद्व को प्रस्तुत करती है। 'संबंध' स्त्री-पुरुष संबंधों की जबर्दस्ती गढ़ी गई कहानी बनकर रह गई है। 'सफेद सपने' में वयःसंधि से गुजरने वाले किशोर का अंतर्द्वंद्व प्रकट हुआ है। 'शेष प्रश्न' महानगरीय जीवन बोध का एक अन्य पक्ष प्रस्तुत करती है, यह बच्चे के खो जाने पर मानसिक यंत्रणा भोगते परिवार की कहानी है। 'कुत्ता' समाज के विभिन्न लोगों की मानसिकता को प्रकट करने का प्रयत्न करती है, कहानी के अंत में कुत्ता नाटकीय ढंग से प्रकट होता है।

हिमांशु जोशी के यहां जहां कहीं भी कथानक का वैविध्य है वहां कहानी पर उनकी पकड़ कमजोर है। शिल्प का बनावटीपन, आरोपित भाषा तथा अस्वाभाविक संवाद कहानियों को सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठने देते। ❑

नौटंकी और जनरुचि

पृष्ठ 27 से आगे

आज इस कला की रक्षा और विकास की दिशा में अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएं लगी हुई हैं, किंतु वे उपेक्षित हैं। उन्हें किसी प्रकार का सरकारी प्रोत्साहन नहीं मिलता। आज बहुत सारे साहित्य-संगीत प्रेमी स्वीकारते हैं कि इस लोककला का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत है। ज्ञानपुर-वाराणसी में नौटंकी प्रशिक्षण केंद्र से अब तक लगभग तीस शिष्य इस लोककला का प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं। इसके संचालक राजकुमार श्रीवास्तव अब तक विभिन्न साहित्यिक नौटंकियों में स्तरीय प्रदर्शन कर चुके हैं। *हुनरमंद औरत* इनकी एक विशेष नौटंकी है।

सन् 1982 में स्थापित लखनऊ के 'नौटंकी कला केंद्र' ने इसके पुनरुद्धार के लिए अब तक बहुत कुछ किया है। वहां से *नौटंकी कला* नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन कर नौटंकी विधा से संबंधित समस्याओं, इसके वर्तमान रूप, पूर्व के कलाकारों की दयनीय स्थिति आदि पर जनमानस का ध्यान आकृष्ट करने के सफल प्रयास किए हैं। इसके लिए कृष्ण मोहन सक्सेना, कामेश्वरी श्रीवास्तव, रघुवीर कुशवाहा, देवेंद्र कुमार मिश्र, राजकुमार श्रीवास्तव, विजय बहादुर श्रीवास्तव, कुंअरकांत आदि की सेवाएं भुलाई नहीं जा सकतीं।

यदि यहां नौटंकी कला के संरक्षक त्रिमोहन लाल का उल्लेख नहीं होगा, तो यह लेख अधूरा ही रहेगा। त्रिमोहन लाल ने नौटंकी के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। उन्होंने कन्नौज की नौटंकी परंपरा को तो विकसित किया ही, अनेक कलाकारों को भी प्रशिक्षित कर अपनी परंपरा में शामिल किया। नौटंकी लेखक यासीन खां को उन्होंने ही प्रशिक्षित किया था। खां साहब उस समय के जाने-माने शायर थे। त्रिमोहन लाल ने हजारों दर्शकों के समक्ष *कौमी दिलेर, वीर अभिमन्यु, खुदा दोस्त, पुकार* आदि नौटंकियों का प्रदर्शन कर कौमी एकता, भावात्मक सद्भाव तथा स्वदेश की रक्षा के महत्व को स्थापित किया। आजादी की लड़ाई में राज्य तथा ग्राम स्तर पर महात्मा गांधी एवं अन्य क्रांतिकारियों के विचारों को संप्रेषित कर जनजागरण की दिशा में इसका विशेष महत्व है। महाकवि जगनिक के लोककाव्य *आल्हा खंड* पर आधारित नौटंकियां प्रस्तुत कर त्रिमोहन लाल ने राष्ट्र के प्रति समर्पण तथा वीरता की भावना भरने में सफलता प्राप्त की थी।

आज पूरे राष्ट्र में विखंडन की प्रक्रिया आरंभ हो गई है। मनुष्य की रागात्मक वृत्ति समाप्त होती जा रही है, फलतः आज व्यक्ति आत्मकेंद्रित हो गया है। दूसरे की सुख-सुविधा का ख्याल किए बगैर वह अधिकाधिक भौतिक सुख प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो रहा है। क्षुद्र स्वार्थों के कारण वह धर्मांध होकर जातीयता, सांप्रदायिकता आदि के दल-दल में धंसता जा रहा है। अगर गंभीरता से विचार किया जाए, तो इसके मूल में एक हद तक दूरदर्शनी और फिल्मी अपसंस्कृति और स्वस्थ मनोरजंन का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में नौटंकी जैसी लोकनाट्य कला समाज का स्वस्थ मनोरंजन कर उसकी रुचि को परिमार्जित करने में सहायक हो सकती है। ❑

समीक्षा

उपन्यास

अंचल की गंध

उगते सूरज की किरण : शैलेश मटियानी ; आशा प्रकाशन, 51, करनपुर, प्रयाग स्टेशन, इलाहाबाद; मूल्य : 50 रुपये; पृष्ठ :143

शैलेश मटियानी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार हैं। उनके कथा साहित्य में जितनी विषयगत विविधता है, उतनी अन्यत्र शायद ही देखने को मिले। *उगते सूरज की किरण* उनका लोकगाथापरक उपन्यास है। यानी यह एक लोकगाथा का उपन्यासीकरण है। कुमाऊं के जीवन में 'जागर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जागर, कुल देवताओं को मनुष्य की देह में अवतरित होने के लिए आमंत्रित करने की एक विधि है। कथा-गायक किसी शौर्यपूर्ण लोकगाथा को गीतबद्ध करके गाता है। थाली या हुड़के के संगीत के साथ शौर्य प्रसंगों को कुल देवता की गरिमा और महिमा से जोड़ता हुआ, एक तरह से उन्हें अवतरित होने के लिए ललकारता भी है। बीच-बीच में गृहस्वामी और गृहस्वामिनी को खुद भी मंगलाशीष देता रहता है और कुल देवता से भी उनके मंगल की प्रार्थना करता रहता है।

उगते सूरज की किरण कथा-गायक के इसी मंगलाचरण से शुरू होता है। कथा श्रोताओं को संबोधित है। मूल कथा पर आने से पहले, कथा-गायक आशीष और देवता की महिमा का गुणगान कर अवतरण की एकाग्रता ही नहीं बनाता, कथा के सूत्रों को उभारकर श्रोताओं में जिज्ञासा उत्पन्न करने की भूमिका भी बांधता है। पात्रों के चरित्रों की एक रूपरेखा भी वह भूमिका में बता देता है ताकि मूल कथा के आने पर श्रोता पात्रों के आचरण को असंगत न समझें—सहज स्वीकर कर लें।

उगते सूरज की किरण में जो कथा है, उसके नायक हैं– बोहरीकोट के वीर भाई रणजीत बौर और चंदरी बौर। खलनायिका के रूप में है, रणजीत बौर की पत्नी जयमाला और करैतीकोट के बाइस भाई करैत मल्ल। सुमंगला स्त्री है—चंदरी बौर की पत्नी कुसुमी बौरी। जैसा कि लोककथाओं का मूल चरित्र होता है.... अच्छाई को अतिशयोक्ति के साथ बखान कर यह बताना कि मनुष्य और समाज के लिए यही आदर्श है तथा बुराई को विनाश के कगार तक ले जाने वाले अमंगल तत्व के रूप में उभारकर श्रोताओं के मन में उसके प्रति घृणा और आक्रोश पैदा करना, *उगते सूरज की किरण* के पात्र इसी को सिद्ध करते हैं। जयमाला अपनी तमाम बुराइयों के साथ करैतों से सांठ-गांठ कर बोहरीकोट को बर्बाद करने पर तुली है। असल में, बाइस भाई करैत उसके आकर्षण हैं। वह उन्हीं के साथ जाना चाहती है। पर रणजीत बौर और चंदरी बौर की वीरता से भी परिचित है। इसलिए वह छल से विनाश करने के उपाय सोचती है। कुसुमी बौर इन षडयंत्रों को समझ जाती है। वह परिवार और कुल को बचाने के लिए जोखिम उठाने को भी तैयार हो जाती है।

उपन्यास का शिल्प और स्थानीय शब्दों का चयन कथा को गति देने के साथ उसकी जीवंतता को भी बनाए रखता है।

लोक कथा और लोक जीवन

संकल्प की ओर : प्रेम सिंह नेगी ; श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, द माल, अल्मोड़ा; मूल्य 95 रुपये ; पृष्ठ : 360

किसी अंचल विशेष की पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यास में वहां की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और प्राकृतिक गंध होनी आवश्यक ही है। वरना विभिन्न अंचलों की विभिन्न रचनाओं में कथा के अलावा अंतर क्या रह जाएगा! इस संदर्भ में देखें तो प्रेम सिंह नेगी का उपन्यास *संकल्प की ओर* कुमाऊं अंचल की पृष्ठभूमि को अपने में संजोए हुए है। उपन्यास की कथा एक ऐतिहासिक आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में उठाई गई है। ब्रिटिश शासन में वहां अंग्रेज अफसरों को अधिकार था कि वे अपना सामान ढोने के लिए जनता से कुली बेगार ले सकते थे। यानी मेहनताना दिए बगैर इनसे सामान ढुलवाया जाता था।

कुली बेगार प्रथा के विरोध में उठा यह आंदोलन, स्वाधीनता संग्राम का अभिन्न अंग बन गया था। पर्वतीय प्रदेश की जटिल संरचना में आंदोलन की जो कठिनाइयां थीं, इस विरोध से वही इसकी शक्ति भी बन गईं। उन्हीं कठिनाइयों को जनता अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हथियार के रूप में इस्तेमाल करने लगी।

कहानी मोहना के स्वतंत्रता आंदोलन में कूदने से आरंभ होती है। वह पढ़ा-लिखा है और अंग्रेजों के विश्वासपात्र 'थोकदार' का बेटा है। उपन्यास इतिहास को उतना ही उठाता है, जितना आंदोलन को रेखांकित करने के लिए जरूरी था। यह एक तरह से संदर्भ के रूप में ही आया है। शेष है तात्कालिक जीवन....उसकी विसंगतियां,

उसके विश्वास और स्वाधीनता संग्राम में प्रेरित होने के कारण। ये कारण राष्ट्रीय उतने नहीं हैं। स्थानीय अनपढ़ जनता राष्ट्रीय मुद्दों से उतनी परिचित भी नहीं है। इनमें स्थानीयता प्रमुख है। इन्हीं में अंचल की गंध भी छिपी है। आंदोलन और उससे जुड़े सवाल तथा लोगों के भीतर घर कर रही प्रेरणा उनके दैनंदिन जीवन, संस्कृति, रीति-रिवाज, भौगोलिक तथा प्राकृतिक संदर्भों से अलग नहीं है।

प्रकृति यहां एक नायक के रूप में विद्यमान है। वह केवल चित्रात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, उसके साथ जीवन के कार्यकलाप भी जुड़े हुए हैं। लेखक का यह प्रकृति प्रेम कहीं-कहीं पर सीमाओं पर अतिक्रमण भी करने लगता है—कथा में बिखराव कर देता है। साथ ही लेखक मूल संवेदना को टूटने नहीं देता। यही इसकी पठनीयता को भी बनाए रखता है।

— गौरी शर्मा

कविता

धरती, बादल और अंधेरा

अकह और **प्यासी धरती खाली बादल** भगवतशरण अग्रवाल (दोनों); पार्श्व प्रकाशन, निशापाल, तिलक मार्ग, अहमदाबाद.1; मूल्य 60 रुपये; पृष्ठ : 86

मौन का आंगन : दिव्या रावल; दिव्या रावल प्रकाशन, 8/ए, मैत्री एपार्टमेंट, स्वस्तिक सोसायटी, नवरंगपुर, अहमदाबाद-1; मूल्य : 80 रुपये पृष्ठ :

अंधेरे में देखना : प्रताप सहगल; अभिरुचि प्रकाशन, 3/114, कर्ण गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-32; मूल्य : 60 रुपए; पृष्ठ : 94

कवि भगवतशरण अग्रवाल के संग्रहों - *अकह* और *प्यासी धरती खाली बादल* में तीन तरह की कविताएं हैं—हाइकू, छंद के तहत लिखे गए गीत तथा बिना छंद की लंबी कविताएं। सत्रह अक्षरों और तीन पंक्तियों की काव्य रचना हाइकू के लिखने वाले हिंदी में बहुत कम लोग रहे हैं। अग्रवाल के प्रयास इसी संदर्भ में गौरतलब हैं। *अकह* में उनके 102 हाइकू संकलित हैं। एक उदाहरण है -

किससे कहें?/अपना दुख कौन?/नहीं बेचैन।

किंतु हाइकू की तुलना में उनके गीत ज्यादा असर करते हैं। पुरानी शैली के इन गीतों में छंदों और शब्दों का अपेक्षाकृत उपयुक्त प्रयोग किया गया है जिससे उनमें गेय तत्व बराबर मौजूद रह पाया है। 'विस्मृति' शीर्षक गीत की ये पंक्तियां इसकी पुष्टि करती हैं -

भूला चुका हूं भेद आज मैं / आंसू और पानी में क्या है

भूल चुका हूं संयम क्या है / पापी क्या है, ज्ञानी क्या है।

प्यासी धरती खाली बादल में कवि के जीवन दर्शन के वृत्तांत है, जिनमें व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों ही तरह के संदर्भ शामिल हैं। लेकिन कवि सबसे ज्यादा सफल उन कुछेक कविताओं में है, जिनमें व्यंग्य का पुट मौजूद है।

'अस्तित्ववादी तुक्तक' इस सिलसिले में एक अच्छी कविता है -

कवियों की महफिल में चर्चा है, कैसे जिएं?
कैक्टस के कांटों से कविता को, कैसे सिएं?
आओ ऊल जलूल लिखें
फूल को बबूल लिखें
अपना अस्तित्व सिद्ध करने को, जहर पिएं?

संक्षेप में इन दोनों संग्रहों की कविताओं में वह बार-बार अपने लिए नया मुहावरा ढूंढते हैं और शिल्प में भी फेरबदल करने के लिए लगातार उत्सुक दिखते हैं।

मेरी तनहाइयों से/तुम्हारा यदि कोई रिश्ता है तो सिर्फ इतना / कि / मैंने आशियाना बनाया था तुम उसे वीरान कर गए हो।

कवयित्री दिव्या रावल की 'सूनापन' शीर्षक से उपर्युक्त कविता उनकी काव्य रचना संबंधी सोच की एक बानगी है। उनके नए कविता संग्रह मौन का आंगन की अन्य कविताएं भी प्रायः ऐसी ही मनःस्थिति व ऐसे ही रचना-विधान के आसपास हैं। उनकी ज्यादातर कविताएं कटु अतीत या सुखद स्मृतियों, अमूर्त किस्म के सम्मोहन या निजी किस्म के उद्‌बोधन, विचित्र किस्म की आध्यात्मिकता या सरल किस्म की धार्मिकता के स्वर लिए हुए हैं। दिव्या के दुख और पीड़ा के प्रसंग इतने अमूर्त हैं कि उनके जरिए किन्हीं अर्थों तक नहीं पहुंचा जा सकता। साथ ही छंद के निर्वाह के प्रति भी वह बहुत सजग नहीं हैं और सीधे तौर पर अपनी बात कहती हैं -

राधे के प्रिय तुम कृष्ण सांवरे
मुझसे खेलो न अठखेली
आंखों में बदरी नीर भरी
कांप रही सहमी-सहमी।

यह अनगढ़पन दिव्या की कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। कहीं-कहीं वह उर्दू शायरी के प्रभाव में बहती भी दीखती हैं लेकिन फिर जल्दी ही अपनी भाषा और रौ में लौट आती हैं।

पुस्तक में रेखांकनों की सुपर इंपोजिंग के जरिए कविता के अर्थों का संकेत देने का प्रयोग अच्छा है। वस्तुतः यह पुस्तक बंद दरवाजों की भावुकता के बारे में सोचने की एक जरूरी जिज्ञासा देती है।

अंधेरे में देखना प्रताप सहगल का नया कविता संग्रह है। भावभूमि के आधार पर इस संग्रह की कविताओं को पांच शीर्षकों के तहत विभाजित किया गया है—नए सिरे से, सुनो अखबार!, अंधेरा और आदमी, बूचड़खाना, और प्रतिच्छाया। उनकी ज्यादातर कविताएं हमारे समय के संदर्भों से अपना संबंध बनाए हुए हैं। प्रतिच्छाया खंड के पूर्व एक वक्तव्य संलग्न है, जिससे यह पता चलता है कि इस खंड की कविताएं छायाकार विश्वमोहन तिवारी की कुछ उत्कृष्ट पारदर्शियों को देखने के बाद बनी एक खास मनःस्थिति की उपज हैं। इसलिए इनमें मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक संदर्भों से इतर विषय भी शामिल हैं।

प्रताप सहगल की कविताओं में एक निश्चित किस्म की गंभीरता व सामाजिकता प्रायः उपस्थित है। किंतु कई बार ऐसा होता है कि किसी विषय, संदर्भ या शब्द को उठाकर वह उससे खेल करते प्रतीत होते हैं। मसलन शब्द के बारे में वह लिखते हैं :

शब्द की सत्ता की पहचान/सिर्फ नाद से नहीं होती होता है हर शब्द के पास / अपना एक प्रभामंडल

इस प्रभा के बारे में जानते हुए भी वह आगे इसी कविता में गेंद की जगह कंदुक शब्द रख देते हैं और उससे पैदा होने वाले अवरोध के जरिए शायद शब्द की सत्ता को जांचते हैं।

इसी तरह का जानबूझकर किया गया या अचानक आ गया असंतुलन संग्रह में अन्य स्थानों पर भी लक्षित होता है। कुछ कविताओं में कोई प्रभावी संयोजन किसी निष्कर्ष तक पहुंचने दे,

उससे पहले ही कुछ अन्य कविताओं में वह ऐसे उथले काव्य प्रयोग करते दिखाई देते हैं कि किसी एक धारणा तक पहुंचना मुश्किल जान पड़ता है। किंतु इतना जरूर है कि प्रताप सहगल के यहां वैचारिकता शिल्प से अधिक प्रभावी स्थिति में होने के बावजूद जुमलेबाजी जैसी चीज से बची हुई है। वह अपनी कविताओं के लिए लोक शब्दों, लोक तत्वों या इतिहास और पुराण संदर्भों की खोजबीन के उस गैरजरूरी यत्न से भी बचे हैं।

किंतु प्रताप सहगल की इन कविताओं में वैचारिकता को लेकर दिक्कत वहां खड़ी होती है, जहां वह विचार को कविता में गूंथते हैं। यह तथ्य 'बूचड़खाना' जैसी लंबी कविता के बारे में लागू होता है। जबकि जहां विचार अनायास कविता का हिस्सा बन जाता है वहां वह ज्यादा कारगर है। 'इस साल' कविता इसका इच्छा उदाहरण है।

— संगम पांडेय

कविता

जानने की बातें

तुम्हारे आने पर (कविता संग्रह) : कैलाश कबीर; बोरूंद-342604; मूल्य 80 रुपए; पृष्ठ : 117

इस संग्रह में छोटी-बड़ी कुल 50 कविताएं हैं। इन कविताओं को कवि ने तीन खंडों में विभक्त किया है—वैखरी, मध्यमा और पश्यंती। इन तीनों खंडों में भिन्न-भिन्न मनः स्थितियों की कविताएं हैं। इनमें एक ओर जहां जीवन की जंग से जूझने की उद्दाम ऊष्मा है, वहीं दूसरी ओर खिलखिलाती हुई चांदनी की शीतलता भी।

कवि तो शब्दों को ही साधता है इसलिए वह शब्दों की अमरता से परिचित रहता है। शब्द तो अक्षर ही हैं, जिनका क्षय नहीं होता। ये हमारी चेतना में पुरातन काल से जीवित हैं, जिन्हें मिटाने की ताकत संगीनों में नहीं होती और जब भी इन्हें मिटाने की कोशिश होती है तो शब्द वैसे ही तन जाते हैं जैसे आग में तन जाती है गीली मिट्टी और जब शब्द आग से तपकर निकलते हैं तो हो जाते हैं और भी सुर्ख एवं दुर्निवार। कवि ने शब्दों की इस प्रवृत्ति को शिद्दत से महसूसा है :-

वे नहीं जानते यह बात
कि जब जलती है किताब
तो केवल कागज जलते हैं
शब्द तो उड़ जाते हैं
बनकर चिंगारियां ....
और आता है बसंत
बसंत को भी कहां रोक पाती हैं संगीनें
और न ही उस नजर को
जो फूलों की जानिब उठती है .....

संग्रह में कुछ कविताएं ऐसी भी हैं जिनके प्रतीक सर्वथा मौलिक तो नहीं कहे जा सकते क्योंकि कई कविताओं पर नागार्जुन और गालिब के प्रतीक स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। लेकिन ऐसा होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। जितने भी रचनाकार हैं, किसी-न-किसी से तो—अपने समकालीन या पूर्ववर्ती रचनाकरों से—प्रभावित होते ही हैं। हर समर्थ रचनाकार परंपरा में ही अपनी मौलिकता की तलाश करता है। अपनी 'बिजूका' कविता में कवि ने लगभग वही प्रतीक लिया है जो नागार्जुन ने 'भुस का पुतला' शीर्षक कविता में लिया था। कथ्य की दृष्टि से भी दोनों में बहुत हद तक समानता है। लेकिन जितनी तल्खी से नागार्जुन की उक्त कविता में व्यंग्य उभरकर सामने आया है, वैसा इसमें नहीं। फिर भी पाठकों पर कविता अपना प्रभाव छोड़ जाती है। संग्रह की ही एक कविता है 'भिखारी की मौत' जिसमें कवि ने लिखा है :

बास से नाक भौं सिकोड़ते लोग
सफाई कर्मचारियों को कोसते हैं
उसे तो मरना ही था
कुत्ते की मौत
आदमी के हाथों
भिखारी था
ट्रैफिक के नियम नहीं जानता था।

इस कविता से कई बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि किसी भिखारी की सड़ी हुई लाश से लोग घिन करते हुए सफाई कर्मचारी को कोसते अवश्य हैं, लेकिन उसकी मौत पर संवेदना व्यक्त नहीं करते। व्यक्ति की कुंद होती संवेदना आज मानवीय रिश्तों को कायम न होने देने में सबसे बड़ी सहायक है। इसमें भिखारी द्वारा ट्रैफिक के नियमों को न जानने का अभिप्राय उन कानूनों से है जो बनते तो हैं आम लोगों के रक्षार्थ, लेकिन उनका उपयोग सदैव से उनके हित में ही होता रहा है जिनका मुख्य कर्त्तव्य व्यक्तिनिष्ठता है। अक्सर कानून के इतिहास में यही देखा गया है कि जहां एक ओर वह गरीबों को घेरे में डालता है वहीं दूसरी ओर सुविधासंपन्न व्यक्तियों को स्वच्छंद करता है। कानून की इस विद्रूपता से तंग आकर जब गरीब इसका उल्लंघन करते हैं तो उन्हें दोषी ठहराकर कुचल दिया जाता है।

इसी तरह एक कविता में कवि लिखता है कि :

जब हम उन दरख्तों के
वर्जित फल चखते हैं
तो स्वर्ग से जमीन पर फेंक दिए जाते हैं
लेकिन जमीन भी हो जाती है स्वर्ग
अगर झोले में हों
सांप की तरह फुंफकराते हुए—कुछ शब्द।

संग्रह में कुछ कविताएं ऐसी भी हैं जो संग्रह को कमजोर बनाती हैं। मसलन इसमें संग्रहीत ग़ज़ल को ही लें जो किसी भी कोण से ग़ज़ल नहीं लगती। कई बार कुछ रचनाकार इस भ्रम के शिकार हो जाते हैं कि वे जो लिख रहे हैं वह बहुमूल्य है, लिहाजा उन पंक्तियों पर पुनर्विचार करना उचित नहीं समझते।

— राधेश्याम तिवारी

❑

योजना

योजना और विकास को समर्पित भारत के
नव निर्माण की प्रमुख पाक्षिक पत्रिका

एक प्रति : 5 रुपये
वार्षिक : 50 रुपये
संपर्क :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस
नई दिल्ली

राष्ट्रीय एकता पर प्रकाशन विभाग से प्रकाशित पुस्तकें

भारत के बौद्ध तीर्थ-स्थल संघसेन सिंह / प्रियसेन सिंह	45 रु.
भारत में जनसंवाद डा. महावीर सिंह	50 रु.
भारतीय विज्ञापन में नैतिकता मधु अग्रवाल	45 रु.
राजर्षि पुरुषोतम दास टण्डन सत सोनी	22 रु.
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विजय अग्रवाल	55 रु.
हिंदी साहित्यकार : एक अलबम (चालीस दिवंगत साहित्यकारों के रंगीन चित्र)	400 रु.
रसिकप्रिया आचार्य केशवदास कृत	250 रु.
भारत के दुर्ग दीनानाथ दुबे	70 रु.
आदिवासी कला डा. वीरबाला भावसार	20 रु.
देशभक्ति के नाटक चिरंजीत	20 रु.
सन् सत्तावन के भूले-बिसरे शहीद भाग-2 डा. विश्वमित्र उपाध्याय	25 रु.
भारत के गुरुद्वारे गुरुबक्श सिंह	40 रु.
पैगंबरों की कथाएं इकराम राजस्थानी	13 रु.
अमीर खुसरो डा. सोहनपाल सुमनाक्षर	15 रु.
समता की ओर मोहनदास नेमिशराय	15 रु.
मध्य भारत के लोकगाथा गीत डा. राम प्रकाश सक्सेना	54 रु.
हमारी नगरिया मनोहर सिंह बतरा	11 रु.
भारतीय जन-जीवन : चिंतन के दर्पण में खंड-एक	40 रु.
भारतीय हस्तशिल्प परंपरा कमला देवी चट्टोपाध्याय	25 रु.
संदर्शिका भारतीय लघु चित्रकला प्रमोद गणपत्ये	120 रु.
अजंता का वैभव	800 रु.
अपनी हिंदी सुधारें डा. विजय अग्रवाल	30 रु.
भारत वार्षिक संदर्भ : ग्रंथ 1994	200 रु.

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं में से किसी एक पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बन जाने पर पुस्तकों की खरीद पर 10 प्रतिशत की छूट। विभिन्न विषयों पर भारत की सभी भाषाओं में उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

100 रुपए से कम आदेश पर पंजीकरण शुल्क (रजिस्ट्रेशन फीस) अतिरिक्त भेजना होगा। पुस्तकें स्थानीय पुस्तक विक्रेताओं से लें अथवा सीधे लिखें :-

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001

विंसेंट शीन



गांधीजी

एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी

विंसेंट शीन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रेट लाइफ इन ब्रीफ' पहली बार हिंदी में

मूल्य : 50 रुपये

संपर्क :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस
नई दिल्ली - 110001

यू (डी.एन.)-49 प्राप्त
Postal Regn. No. D (DL)/12035/94
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi

दिल्ली डाक
Delhi Postal

आर. एन. 701/57
R.N. 701/57

हिंदी साहित्यकार : एक अलबम

(चालीस दिवंगत साहित्यकारों के रंगीन चित्र)



सर्वेश्वर दयाल सक्सेना



फणीश्वरनाथ रेणु



मुक्तिबोध



मोहन राकेश

संक्षिप्त परिचय सहित 34.5 X 27.5 सेंटीमीटर आकार में, आर्ट पेपर पर मुद्रित, मढ़वाने योग्य तथा आकर्षक व मजबूत फोल्डर में संग्रहीत।

हर पुस्तकालय, विद्यालय और संग्रहकर्ताओं के लिए जरूरी।

मूल्य : चार सौ रुपये।

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित